॥ श्रीहरिः ॥

281▲

शिक्षाप्रद पत्र

जयदयाल गोयन्दका

गीताप्रेस गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR

॥ श्रीहरिः ॥

शिक्षाप्रद पत्र

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

जयदयाल गोयन्दका

॥ श्रीहरि: ॥

निवेदन

इस पुस्तकमें प्राय: 'कल्याण' मासिक पत्रके ३०वेंसे ३२वें वर्षतक 'परमार्थ-पत्रावली' शीर्षकसे निकले हुए मेरे बहुत-से उपयोगी पत्रोंका संग्रह है। पत्रोंके भाव सर्वसाधारणकी समझमें सुगमतासे आ जायँ—इस दृष्टिसे पत्रोंमें यत्र-तत्र आवश्यकतानुसार संशोधन कर दिया गया है। इनमें अभ्यास-वैराग्य, विवेक-विचार, जप-ध्यान, सत्संग-स्वाध्याय, भगवद्‌गुणगान-कीर्तन, स्तुति-प्रार्थना, संयम-सेवा, सद्‌गुण-सदाचार, मनोनिग्रह, श्रद्धा-प्रेम, भक्ति-ज्ञान, कर्म-रहस्य, व्यापार-सुधार, पारस्परिक व्यवहार-सुधार, स्त्री-शिक्षा एवं ईश्वर, महात्मा, परलोक, गीता, रामायण, महाभारत, इतिहास-पुराण आदिके विषयमें उत्पन्न अनेक शंकाओंका निराकरण किया गया है। इनसे सभी भाइयों, बहनों और माताओंको अपने मनकी शंकाओंका समाधान करनेमें सहायता प्राप्त हो सकती है। अत: सबसे विनीत प्रार्थना है कि यदि वे उचित समझें तो इनको कृपया मननपूर्वक पढ़कर इनमें लिखी बातोंको अपने अधिकारके अनुसार काममें लानेकी चेष्टा करें।

विनीत—

जयदयाल गोयन्दका

✦✦

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय पृष्ठ-संख्या

॥ श्रीहरिः ॥

शिक्षाप्रद पत्र

[१]

सादर हरिस्मरण। तुम्हारा पत्र व्यवस्थापक, गीताप्रेसके नामसे दिया हुआ मिला। संसारको अनित्य, क्षणभंगुर, मानव-शरीरको दुर्लभ, विषयोंको विषवत् एवं भजन-साधनको अमृतवत् समझते हुए भी तुम्हारी बुद्धि भ्रमित-सी हो रही है तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह—आधिपत्य जमाये बैठे हैं, लिखा, सो मालूम किया। बुद्धिका भ्रम दूर हो एवं काम, क्रोध, लोभ, मोहका समूल नाश हो जाय—नामोनिशान न रहे, इसके लिये ईश्वरका भजन-ध्यान श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नित्य-निरन्तर करनेकी तत्परतासे चेष्टा करनी चाहिये। ऐसा करनेसे शनैः-शनैः भ्रमका नाश होकर काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि दुर्गुणोंका भी नाश हो सकता है। गीता-तत्त्वांक या गीता-तत्त्वविवेचनी टीकामें अध्याय ९ श्लोक ३०-३१ और अध्याय १० श्लोक ९-१० और ११ की व्याख्या देखनी चाहिये।

मनकी चंचलताके विषयमें कई बातें लिखीं और लिखा कि भगवन्नाम-जप करते समय भी मन इधर-उधर चला जाता है, सो मालूम किया। इसके लिये भगवान्‌की शरण होकर रो-रोकर करुणभावपूर्वक भगवान्‌से स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। जप करते समय मन इधर-उधर चला जाय तो इसके लिये सच्चा और वास्तविक दुःख होना चाहिये। संसारको नाशवान्, क्षणभंगुर, दुःखरूप तथा अनित्य समझकर इससे वैराग्य करना चाहिये एवं भगवान्‌को सर्वगुणसम्पन्न तथा आनन्द और शान्तिस्वरूप समझकर उनमें श्रद्धा और प्रेम बढ़ाना चाहिये। इस प्रकार करनेसे मन धीरे-धीरे संसारसे हटकर परमात्माकी ओर लग सकता है।

इन्द्रियोंका तो इधर-उधर भागनेका स्वभाव ही है, वे प्रमथनस्वभाव-वाली हैं; किंतु उनपर अधिक-से-अधिक सावधानीपूर्वक नियन्त्रण रखना चाहिये। मन-इन्द्रियोंको अभ्यास और वैराग्यसे वशमें करना चाहिये। गीता-तत्त्वांक या गीता-तत्त्वविवेचनी टीकामें अध्याय ६ श्लोक ३५ और ३६ की व्याख्या देखनी चाहिये।

अपने स्वरूपको पहचानने एवं शान्ति मिलनेका उपाय पूछा, सो इसके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित पुस्तकोंका स्वाध्याय करना चाहिये। 'तत्त्व-चिन्तामणि' के सात और 'परमार्थ-पत्रावली' के चार भाग प्रकाशित हो चुके हैं, इनका स्वाध्याय करना चाहिये। इनके अध्ययनसे आपकी शंकाओंका समाधान हो सकता है। सबसे यथायोग्य।

[२]

सप्रेम राम-राम! आपका पत्र मिला। आपने कई शंकाएँ की हैं, उनका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

१-गरीबोंको भगवान् ही बनाते हैं, यह आपका लिखना ठीक है। जो जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल भगवान् भुगताते हैं एवं उनकी सेवा करनेके लिये भी कहते हैं। भगवान्‌ने ही गरीबोंको बनाया है। इसका मतलब यह नहीं है कि वे बेचारे कष्ट पाते रहें एवं उनकी सेवा भी न की जाय। सेवाका काम अपने लोगोंके जिम्मे है। जैसे कोई चोरी-डकैती या बदमाशी करता है तो पुलिसद्वारा गवर्नमेंट उसे पर्याप्त मात्रामें दण्ड दिलवाती है। अगर उस दोषीके कहीं घाव हो जाता है तो मलहम-पट्टीके लिये भी उचित व्यवस्था रहती है। मार-पीटकर ही नहीं छोड़ दिया जाता। इसी प्रकार भगवान् उन्हें दण्ड भुगतानेके लिये गरीबी देते हैं। उनकी सेवाका काम दूसरोंके

जिम्मे है। जो सेवा करता है, उसे उसका अच्छा फल मिलता है; अतः सेवा करनेवालेको तो कर्तव्य समझकर गरीबोंकी सेवा ही करनी चाहिये।

२-आपने मित्रभाव रखनेवाले एक व्यक्तिका उदाहरण दिया। आपने उसे दूकान करवायी और वह सब रुपया लेकर चंपत हो गया, सो मालूम किया। इस घटनासे आपके मनमें जो यह धारणा हो गयी है कि किसीके साथ भला करनेपर भी बुरा ही होता है, यह ठीक नहीं है। आपके साथ कोई बुराईका व्यवहार करे तो आपको बुरा नहीं मानना चाहिये। आपको तो उसके साथ अच्छे-से-अच्छा व्यवहार करना चाहिये। आपको अपने अच्छे कर्मका फल मिलेगा एवं बुरा कर्म करनेवालेको पाप भोगना पड़ेगा।

'जो तोकूँ काँटा बुवै ताहि बोय तूँ फूल।'

आपको इस उपर्युक्त पद्यवाक्यके अनुसार ही करना चाहिये। साथ ही धोखा देनेवालोंसे सावधान रहना चाहिये। कोई काँटा बने तो बने, आपको तो फूल ही बनना चाहिये।

३-आप कल्याण-अंक तथा गीताप्रेससे पुस्तकें मँगाकर बराबर पढ़ते हैं, सो बहुत उत्तम बात है। यह भी लिखा कि संतोष नहीं हो रहा है, सो संतोष हो इसके लिये भगवान्‌के नामका जप, स्वरूपका ध्यान, गीता-रामायणका पाठ, स्तुति-प्रार्थना श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर करते रहना चाहिये। इससे संतोष हो सकता है।

४-गीता पढ़नेके लिये आपकी हार्दिक इच्छा है एवं इसके लिये आप प्रयत्नशील भी हैं, सो उत्तम बात है। संस्कृतका आप शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते हैं, तो इसके लिये संस्कृतके किसी पण्डितसे गीताका शुद्ध उच्चारण करना सीख लेना चाहिये। नहीं

तो, संस्कृत श्लोकोंको छोड़कर केवल भाषा-ही-भाषा पढ़ लेनी चाहिये।

× × × ×

आपकी शंकाओंका अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार उत्तर दे दिया गया। और भी कोई बात आप पूछना चाहें तो निःसंकोच पूछ सकते हैं।

✦✦

[३]

सादर हरिस्मरण!

तुम्हारा पत्र मिला। समाचार लिखे सो मालूम किये। तुम्हारे बारह वर्षके लड़केकी मृत्यु हो गयी, इससे तुमने अपनेको असहाय समझा, सो इस प्रकार लड़केकी मृत्यु होनेपर चिन्ता-फिक्र बिलकुल ही नहीं करनी चाहिये। लड़केका जन्म और उसकी मृत्यु प्रारब्धवश ही होते हैं। जन्ममें हर्ष और मृत्युमें दुःख करना यह अज्ञान ही है। इस अज्ञानरूपी अन्धकारको विवेकरूपी प्रकाशसे दूर करना चाहिये। लड़केके मरनेपर चिन्ताकी तो कोई बात है ही नहीं। भगवान्ने अपनेको जो चीज धरोहररूपमें दी थी, उसे वापस ले लिया अथवा दूसरे शब्दोंमें भगवान्की चीज भगवान्के पास चली गयी, ऐसा ही समझना चाहिये। चिन्ता-फिक्र करनेकी तो बात ही क्या है? हाँ, मृतक आत्माको शान्ति मिले, इसके लिये भजन-ध्यान एवं भगवान्से स्तुति-प्रार्थना अवश्य करनी चाहिये।

प्रभुका नाम लेते-लेते तुम्हें पंद्रह दिन हो गये, किंतु शान्ति नहीं मिली, सो मालूम किया। श्रद्धा-विश्वास, प्रेम और मनसे भगवान्का नाम लेना चाहिये तथा भगवान्से स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये; तभी शान्ति मिल सकती है। अभी शरीरका मोह लिखा,

सो शरीरमें मोह नहीं करना चाहिये; यही अशान्तिका कारण है। अनन्यभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नित्य-निरन्तर भगवान्के भजन-ध्यानमें लग जाना चाहिये।

तुम ठंडे जलसे स्नान नहीं कर पाती हो तो कोई बात नहीं है, स्नान गर्म पानीसे कर लेना चाहिये। पर स्नान रोज करना चाहिये। सरदी-जुखाम, बीमारी आदिमें स्नान न हो तो बात दूसरी है।

तुम बिस्तरपर लेटे-लेटे नाम-जप करती हो सो कोई बात नहीं है; हर समय काम करते हुए भी नाम-जप करनेका अभ्यास डालना चाहिये। निरन्तर भजन, ध्यान, स्मरण करनेसे अपने-आप ही सब पापोंसे छुटकारा मिलकर परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। खूब दृढ़ता एवं विश्वासपूर्वक अपने जीवनका एकमात्र लक्ष्य इसीको मानकर तत्परता एवं उत्साहसे कटिबद्ध होकर इस काममें लग जाना चाहिये। अपने मृतक पुत्रके लिये चिन्ताको छोड़कर भगवान्की प्राप्तिके लिये चिन्ता करनी चाहिये, जिससे यह लोक और परलोक दोनों सुधर जायँ। लड़केके लिये चिन्ता-फिक्र करना तो हानिकर और बाधक है।

अपने ग्राममें सत्संगका अभाव लिखा एवं दुःख-निवृत्तिके लिये कुछ दिन अपनी शरणमें रखनेके लिये तुमने हमें लिखा, सो तुम्हारा लिखना ठीक है; किंतु हम तो किसी भी दूसरी स्त्रीको अपने पास नहीं रख सकते। शरणमें किसीको लेनेकी न तो हमारी सामर्थ्य ही है और न अधिकार ही है। शरणके लायक तो एकमात्र भगवान् ही हैं, वे शरणागतवत्सल हैं, हम सबको उन्हींकी शरण लेनी चाहिये। तुम्हें सत्संग नहीं मिलता तो सत्संगके अभावमें सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय भी दूसरे नंबरमें सत्संग ही है। उनमें भगवद्विषयक बातें पढ़नी चाहिये। गीताप्रेससे प्रकाशित तत्त्व-चिन्तामणि, गीता-तत्त्वविवेचनी टीका एवं परमार्थ-

पत्रावली, भगवच्चर्चा, भक्तगाथा तथा गीता, रामायण, भागवत आदिको पढ़ना चाहिये। चैत्रसे आषाढ़तक चार मास ऋषिकेश, गीताभवनमें सत्संग होता है। हम वहाँ जाया करते हैं; बहुत-सी स्त्रियाँ भी अपने घरके आदमियोंके साथ आया करती हैं; वहाँ तुम भी आना चाहो तो घरके किसी आदमीको साथ लेकर आ सकती हो।

तुमने कई बातें पूछीं, उनका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

१-कई लोग गुरु बनकर अपने नामका जप करवाते हैं, उस प्रकार मनुष्यके नामका कभी भी जप नहीं करना चाहिये। तुम्हारी गुरु-मन्त्रमें ही अधिक श्रद्धा है तो भगवान्‌को परम गुरु मानकर उनके नामका जप करना चाहिये—यही सर्वश्रेष्ठ है।

जप न करनेकी अपेक्षा बैठे-बैठे या लेटे-लेटे बिना स्नान किये भी जप करना ठीक ही है। किन्तु स्नान करके आसन लगाकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक ध्यानसहित जप करना ही सर्वश्रेष्ठ है। विस्तारसे गीता-तत्त्वविवेचनी टीका या गीता-तत्त्वांक (जो कि गीताप्रेसमें प्राप्य है) अध्याय ६ श्लोक ११ से १४ की व्याख्या देखनी चाहिये।

२-माला पूरी होनेपर आचमनीसे जल डालनेपर तुम्हें भगवान्‌के ध्यानमें विघ्न होता है तो ऐसा करना कोई जरूरी नहीं है। जैसे तुम्हारे भजन-ध्यानमें सुविधा हो वैसा ही करना चाहिये।

३-तीन-चार दिनोंतक स्त्रियाँ जब कि वे अशुद्ध रहें यानी मासिक-धर्ममें हों, उस अवधिमें वे भगवान्‌के नामका मानसिक जप कर सकती हैं, इसमें किसी भी प्रकारकी आपत्ति नहीं है? भगवान्‌के नामका जप करनेमें तो लाभ-ही-लाभ है।

४-हिंदुओंके जितने व्रत-त्यौहार आदि होते हैं, उनको मनानेमें लाभ ही है, कोई नुकसानवाली बात नहीं है।

५-मृत पुत्रके प्रति कर्तव्य पूछा सो उसकी आत्माको शान्ति मिले, इसके लिये भगवान्से स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये।

६-दिनचर्या लिखकर भेजनेके लिये लिखा, सो पहले अपनी वर्तमान दिनचर्या लिखनी चाहिये। तुम्हारे लिखनेपर उसमें आवश्यक संशोधन किया जा सकता है।

सबसे यथायोग्य।

[४]

सादर हरिस्मरण। गीताप्रेस, गोरखपुरके पतेसे दिया हुआ आपका पत्र मुझे यथासमय मिल गया था, किंतु समयाभावके कारण पत्रका उत्तर देनेमें कुछ विलम्ब हो गया, इसके लिये आपको किसी भी प्रकारका विचार नहीं करना चाहिये। मेरे पास पत्र बहुत आते हैं। अत: उत्तर देनेमें प्राय: विलम्ब हो ही जाया करता है।

आपने संत-शिरोभूषण, माननीय, सम्माननीय, महाराज आदि प्रशंसा-द्योतक विशेषण हमारे नामके आगे-पीछे लिखे एवं 'चरणोंमें शतशः साष्टांग दण्डवत् प्रणिपात' इस प्रकार लिखा, सो ऐसा लिखकर हमें संकोचमें नहीं डालना चाहिये। मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ, मुझे तो श्री एवं राम-राम लिखना ही काफी है।

आपने हमारी तत्त्व-चिन्तामणि पढ़ी एवं पारस्परिक परिचय न होनेपर भी हमें संत मानकर हमारे चरणोंकी सेवा करनेकी अपनी इच्छा लिखी, सो आपके भावकी बात है, किंतु मैं इस योग्य नहीं हूँ। जिन संतोंकी चरण-सेवासे कल्याण हो जाय, ऐसे संतोंको हमारे नमस्कार हैं।

भक्तिमती श्रीमीराबाईका चरित्र सुनकर किसी वाद्ययन्त्रको प्राप्त कर उसे बजाते हुए भजन-कीर्तन करनेकी आपको इच्छा हुई एवं आपने वाद्ययन्त्रके लिये भगवान्से प्रार्थना की तथा

दिलरुबा नामक वाद्ययन्त्र भी भगवत्कृपासे आपको मिल गया, अब आप उसपर भगवान्के भजन-कीर्तन नहीं करते हैं, सो मालूम किया। भजन-कीर्तन तो आपको करने ही चाहिये। भजन-कीर्तन करनेमें आपके कोई विघ्न आता हो तो उसके नाशके लिये आपको भगवान्से रो-रोकर करुणभावसे स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान् बड़े दयालु हैं। साधककी मदद करनेके लिये वे हर समय तैयार रहते हैं। उनसे श्रद्धा-विश्वासपूर्वक प्रार्थना करनेभरकी देर है।

आपने अपने लिये अहंकारी, अज्ञानी, पापी, नीच आदि शब्दोंका प्रयोग किया एवं हमारे लिये निरभिमानी, कृपालु, दयालु, ज्ञानी आदि शब्द लिखे, सो इस प्रकार हमारी प्रशंसा एवं अपनी निन्दाके शब्द नहीं लिखने चाहिये।

हमारी प्रशंसा करते हुए आपने लिखा कि आपके भाव एवं आपके विचार कितने अच्छे हैं कि तत्त्व-चिन्तामणिमें भरतजीका विरह पढ़ते-पढ़ते नेत्रोंमें आँसू आने लगते हैं तथा इसके लिये हमें धन्यवाद दिया, सो इसमें हमें धन्यवाद देनेकी बात ही क्या है? भरतजीका प्रसंग ही ऐसा है, यह तो भरतजीके ही त्याग और प्रेमकी महिमा है।

आपकी बीस वर्षकी अवस्था है। आपकी पिछले साल शादी होनेवाली थी। भगवान्की भक्ति करनेके उद्देश्यसे आपने शादी करनेसे इन्कार कर दिया, इसपर कन्यापक्ष तथा और लोगोंने आपको नपुंसक कहा आदि सभी बातें मालूम कीं। आपकी इच्छा भगवान्की भक्ति करनेकी है सो बहुत उत्तम है; किंतु विवाह करनेमें कोई दोषकी बात नहीं है। माता-पिताका आग्रह हो तो आप विवाह कर सकते हैं।

आपके माता-पिताने आपका नाम कृष्णदास रखा एवं लोग

भी आपको इसी नामसे पुकारते हैं; किंतु कृष्णकी एक मिनट भी चाकरी नहीं होती, इसलिये कृपा करनेको लिखा, सो मालूम किया। हममें कृपा करनेकी सामर्थ्य है ही कहाँ? कृपा करनेवाले तो एकमात्र भगवान् ही हैं, उनकी कृपा है ही, जो कि उन्होंने मनुष्यका शरीर कृपा करके प्रदान किया एवं अपने कल्याणके लिये साधन भी अवगत करा दिया। अब अपना कर्तव्य समझकर नित्य-निरन्तर निष्कामभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्का भजन-ध्यान, पूजा-पाठ, स्तुति-प्रार्थना आदि करनेकी ही कमी है। इसके लिये तत्परता एवं उत्साहसे चेष्टा करनी चाहिये।

आपने भगवान्के भक्तोंकी प्रशंसा की, सो उनकी प्रशंसा तो जितनी की जाय उतनी ही थोड़ी है; किंतु ऐसे सच्चे भगवद्भक्त बहुत थोड़े ही होते हैं, उनकी पहचान करना जरा कठिन है। हम तो साधारण आदमी हैं।

आप कल्याणके ग्राहक हैं एवं बराबर कल्याण पढ़ते हैं, सो अच्छी बात है।

आपने अपनेको विषयरूप त्रिगुणात्मक अन्धकारमें लिखा एवं सुबोध-तरणी होकर बचानेके लिये लिखा, सो ठीक है। इसके लिये भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये। वे ही बचानेवाले हैं।

आपने लिखा कि गुरु मिलते हैं, किंतु सद्गुरु नहीं मिलते, सो सद्गुरु भगवान् हैं ही। उन्हें माननेकी ही कमी है। उन्हें सद्गुरु मानकर और समझकर उनकी शरण होकर साधन करना चाहिये।

आपने ऋषिकेश-सत्संगमें सम्मिलित होनेकी अपनी इच्छा लिखी, सो उत्तम बात है। ऋषिकेशमें लगभग अप्रैलसे जुलाईतक गीताभवनमें सत्संग हुआ करता है। आप वहाँ आ सकते हैं।

सबसे यथायोग्य।

✦✦

[५]

सप्रेम राम-राम! आपका पत्र मिला। समाचार लिखे, सो मालूम किये। आपके चित्तमें अशान्ति रहती है एवं संसारकी ओर बारम्बार मन जाता रहता है, सो मालूम किया। संसारमें आसक्ति और ममता होनेके कारण ही बारम्बार मन इधर-उधर जाता है। संसारके पदार्थोंसे आसक्ति और ममता हटाकर भगवान्‌में प्रेम करना चाहिये। भगवान्‌का भजन-ध्यान, स्तुति-प्रार्थना आदि करनेसे ही शान्ति मिल सकती है। इनमें मन नहीं लगे तो एकान्तमें बैठकर रो-रोकर करुणभावसे बारम्बार भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान् बड़े दयालु हैं। उनकी कृपाके प्रभावसे सब कुछ हो सकता है। इस बातपर पूरा विश्वास रखना चाहिये। संसारको नाशवान्, क्षणभंगुर, अनित्य एवं दुःखरूप समझकर गीता अध्याय ५ श्लोक २२, अध्याय ६ श्लोक २६, ३५ और ३६ का अर्थ गीता-तत्त्वविवेचनी टीकामें समझकर उसके अनुसार साधन करनेकी खूब तत्परता एवं उत्साहसे चेष्टा करनी चाहिये। भजन-ध्यान न होनेपर मृत्युको नजदीक और समयको अमूल्य समझकर मनमें सच्चा दुःख एवं सच्चा पश्चात्ताप होना चाहिये तथा आत्मोद्धारकी इच्छाको खूब तीव्र करना चाहिये। परमात्माकी शरण लेकर उन्हींकी कृपाके बलपर साधनको खूब बढ़ाना चाहिये। यही सच्चा एवं वास्तविक रास्ता है। इस प्रकार करनेसे ही सच्ची शान्ति एवं सच्चे सुखकी प्राप्ति हो सकती है।

मनके प्रतिकूल कार्य होनेपर दुःख होता है, यह अज्ञान ही है। इस अज्ञानरूपी अन्धकारको विवेकरूपी प्रकाशसे दूर कर देना चाहिये। भगवान्‌के प्रत्येक विधानको मंगलमय ही समझना चाहिये एवं प्रतिकूलतामें भगवान्‌की विशेष कृपाका अनुभव करके खूब प्रसन्न होना चाहिये।

गीता अध्याय ४ श्लोक ११में भगवान् जो बात कहते हैं, वह बिलकुल ठीक है। उसका मतलब यह नहीं कि भगवान्‌को एक बार याद कर लिया तो फिर बार-बार याद करनेकी आवश्यकता ही नहीं है। भगवान्‌को श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अनन्यभावसे नित्य-निरन्तर याद रखना चाहिये। गीता अध्याय ८ श्लोक ७ और १४ की तत्त्वविवेचनी टीका देखनी चाहिये। उसमें अनन्यभावसे भजन करनेका महत्त्व बताया गया है।

आपने लिखा कि गीता अध्याय ९ श्लोक २७ के अनुसार सब काम श्रीभगवान्‌के अर्पण करनेकी चेष्टा करनेपर भी बहुत कामना हो जाती है, सो मालूम किया। जबतक कामनाएँ रहती हैं तबतक शरण होनेमें ही कमी है। आपके कामनाएँ होती हैं तो आप अभी वाणीसे ही भगवान्‌के शरण हुए हैं, मनसे नहीं। मनसे सब कुछ भगवान्‌के अर्पण करके उनके शरण होनेपर फिर कामनाएँ नहीं हो सकतीं। यह सिद्धान्तकी बात है।

× × × ×

साधनकी बात लिखनेके लिये लिखा, सो ठीक है। भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान निरन्तर निष्कामभावसे विश्वास और प्रेमपूर्वक करनेकी तत्परतासे चेष्टा करनी चाहिये। यह जो मनुष्य-शरीर मिला है, यह भगवान्‌की बड़ी भारी दयासे ही मिला है। इसके रहस्यको समझकर भगवान्‌के आदेशानुसार इसे अच्छे-से-अच्छे काममें ही लगाकर जीवनको सफल बनाना चाहिये। भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझकर भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम बढ़ाने चाहिये।

सबसे यथायोग्य!

✦✦

[६]

सप्रेम राम राम!

आपका पत्र मिला। समाचार सभी मालूम किये। आपके पत्रका क्रमशः उत्तर नीचे दिया जा रहा है—

आप······ के प्रथम श्रेणीके मैजिस्ट्रेट हैं, सो ज्ञात किया। आपने अपने इस कामको घोर तामसिक काम लिखा एवं पूछा कि आदर्श मैजिस्ट्रेट कैसे बना जाय? सो ठीक है। मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं सब प्रकारके आरामका त्याग करके किसीके दबाव या प्रभावमें न आकर, बिना कुछ भी लिये सत्यता और समताका बर्ताव करनेसे आप एक आदर्श मैजिस्ट्रेट बन सकते हैं। आपको लोभ और मोहसे कोसों दूर रहना चाहिये। इनके फंदेमें नहीं फँसकर प्रेम, विनय, उदारता और सत्यता आदिको अधिक-से-अधिक अपनाना चाहिये। इनका कभी त्याग नहीं करना चाहिये। जहाँ अपने किसी भी प्रकारके स्वार्थका सम्बन्ध नहीं होगा, वहाँ आदर्शता आ सकती है।

आपने लिखा कि मनमें संकल्प-विकल्प होते रहते हैं, अहंभावना बनी है, दूसरोंकी त्रुटियाँ देखनेमें सुख मिलता है, सो सब मालूम किया। 'आखिर ये अवगुण कबतक रहेंगे'—आपने पूछा सो ठीक है। इन्हें जब वास्तवमें अवगुण मानकर इनसे घृणा की जायगी, तब इनका स्वयमेव ही अभाव हो सकता है। संसारमें आसक्ति रहनेसे ही तरह-तरहके संकल्प-विकल्प होते रहते हैं। संसारको नाशवान्, क्षणभंगुर एवं अनित्य समझकर उससे वैराग्य करना चाहिये। 'अहम्'—'मैं हूँ' इस अहं-भावनामें अज्ञान ही कारण है, जिसका नाश ज्ञान होते ही हो जाता है। ईश्वरविषयक ज्ञानके लिये सत्संग करना चाहिये एवं गीताप्रेसकी धार्मिक पुस्तकोंका स्वाध्याय करना चाहिये। उन्हें समझनेकी कोशिश करनी चाहिये। दूसरोंके दोषोंको देखनेमें

सुख मिलता है, यह भी अज्ञान ही है। जिसका परिणाम बहुत खराब है। दूसरोंके अवगुण देखनेसे वे अवगुण अपनेमें आते हैं एवं जिसके अवगुण देखे जाते हैं, उससे द्वेष बढ़ता है। इसलिये सबमें गुणोंका दर्शन करना चाहिये ताकि अधिकाधिक प्रेम बढ़े एवं अपनेमें गुणोंका ही प्रादुर्भाव हो। जबतक भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती है, तबतक ये अवगुण किसी-न-किसी रूपमें रह ही जाते हैं। वास्तवमें ये अवगुण ही भगवान्‌की प्राप्तिमें बाधक हैं। इसलिये इन अवगुणोंका परित्याग करने तथा ईश्वरकी प्राप्ति करनेके लिये जीतोड़ परिश्रम करना चाहिये।

आपके चाचाजी डिस्ट्रिक्ट तथा सेशन्स जज थे, वे अपनी पत्नी तथा छः छोटे-छोटे बच्चोंको छोड़कर स्वर्गलोक सिधार गये, लिखा सो संयोगकी बात है। जो जन्मता है, उसे एक दिन निश्चय ही मरना पड़ता है। आपने लिखा कि 'उन्हें १,००० रु० मिलता था। इस दुःखको किस प्रकार सहन करना चाहिये' सो ठीक है। इसे भगवान्‌का विधान मानकर संतोष करना चाहिये एवं आपके चाचाजीका कल्याण हो, इसके लिये भगवान्‌का भजन-ध्यान और स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। चाचीजी आदिको कम-से-कम खर्चा लगानेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये एवं उन्हें पेंशन मिल सके, इसके लिये कोशिश करनी चाहिये।

जैन-दर्शन एवं वैष्णव-दर्शनका अन्तर आपने पूछा, सो ठीक है। जैनियों तथा वैष्णवोंके मतमें काफी अन्तर है; दोनोंका विभिन्न मार्ग है। सब बातें पत्रमें नहीं लिखी जा सकतीं। कभी आपसे मिलना होगा तो आपके पूछनेपर बतायी जा सकती हैं। पुनर्जन्म एवं कर्मफलको दोनों मानते हैं। प्रकृति एवं प्रकृतिका कार्य जड है, यह भी दोनों ही मानते हैं। इन बातोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं है।

× × × ×

आपने लिखा कि मेरे-जैसे जीवकी गति आप-जैसे संतोंकी चरणरजसे होगी, सो निगाह किया। मैं एक साधारण आदमी हूँ। गति तो भगवान्‌की कृपासे ही हो सकती है।

सबसे यथायोग्य।

[७]

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण!

आपका पत्र मिला। समाचार मालूम हुए। उत्तर इस प्रकार है—

आपको झूठ बोलने और पाप करनेमें जो हिचक नहीं होती और डर नहीं लगता, इसका तो यह कारण है कि उनसे होनेवाले परिणामपर आपका विश्वास नहीं है तथा वर्तमानमें झूठ बोलकर और पाप करके आप किसी-न-किसी प्रकारकी भोगवासनाकी पूर्ति करना चाहते हैं, पर वास्तवमें यह बड़ी भारी भूल है। सुखभोगकी इच्छा कभी भी पूरी नहीं हो सकती; क्योंकि भोगोंकी प्राप्ति इच्छासे नहीं होती। ये तो कर्मफलके रूपमें मिलते हैं और जैसे-जैसे मिलते हैं, इच्छाको बढ़ाते रहते हैं; इस परिस्थितिमें इच्छाकी पूर्ति कैसे हो। उसकी तो विचारद्वारा निवृत्ति ही हो सकती है।

आपने लिखा कि धर्म क्या है और पाप क्या है? उसका मुझे ज्ञान नहीं है, सो ऐसी बात नहीं है। ज्ञान तो आपको अवश्य है, पर आप उस ज्ञानका आदर नहीं करते। आप समझते हैं कि झूठ बोलना बुरा है—पाप है। झूठ नहीं बोलना चाहिये—ऐसा दूसरोंसे कहते भी हैं। यदि कोई बोलता है तो उसका झूठ बोलना आपको बुरा भी लगता है, तथापि आप झूठ बोलनेके लिये विवश हो जाते हैं, यही अपने ज्ञानका अनादर करना है। यदि आप जितना जानते हैं, उतने धर्मका पालन करना आरम्भ

कर दें तो आवश्यक जानकारी स्वयं प्राप्त हो सकती है; यह भगवत्कृपाकी महिमा है।

'भगवान् क्या हैं'—यह जानना नहीं बनता, क्योंकि भगवान् मनुष्यकी ज्ञानशक्तिके बाहर हैं। भगवान्‌पर तो विश्वास किया जा सकता है, उनको माना जा सकता है, उनकी महिमा और प्रभावका दर्शनकर, सुनकर, समझकर और मानकर उनपर निर्भर हुआ जा सकता है। ऐसा करनेपर साधक कृतकृत्य हो सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

भगवान् अकारण ही कृपा करनेवाले हैं, यह ध्रुव सत्य है, तभी तो आप और हम सब लोग जो कि उनको नहीं मानते वे भी और जो उनको मानते हैं वे भी उनकी बनायी हुई हवा, अग्नि, जल, प्रकाश आदिका बिना ही किसी प्रकारका मूल्य दिये उपभोग कर पाते हैं। यदि वे अकारण कृपालु नहीं होते तो क्या इनपर रोक नहीं लगा देते, क्या टैक्स नहीं बाँध देते, पर वे ऐसा नहीं करते; क्योंकि वे उदारचित्त हैं।

जो यह बात मान लेता है कि भगवान् अकारण ही कृपालु हैं, वह तो उन्हींका होकर रहता है, वह फिर उनको भूल ही कैसे सकता है।

आप लिखते हैं कि मुझे भगवान्‌को पानेकी इच्छा नहीं है, इससे तो स्पष्ट ही मालूम होता है कि न तो आपको यह विश्वास है कि भगवान् अकारण ही कृपालु हैं, न उनकी महिमाका ही ज्ञान है और न उनकी सत्तापर ही पूरा विश्वास है; क्योंकि जो यह समझता है कि भगवान् किसको कहते हैं, वे क्या कर सकते हैं, क्या कर रहे हैं, उनमें क्या-क्या गुण हैं, उनको प्राप्त होना क्या है? इस रहस्यको जाननेवाला भला उनको बिना प्राप्त किये कैसे रह सकता है।

आपकी जो यह मान्यता है कि बिना छल, कपट और चालाकीके मुसीबत नहीं टलती, यह सर्वथा निराधार है। छल, कपट और चालाकीका ही परिणाम तो मुसीबत है, इसी कारण एक टलती है तो दूसरी आ जाती है। छल, कपट और चालाकीका सर्वथा त्याग कर देनेपर ही वास्तवमें मुसीबत सदाके लिये टल जाती है, यह समझना चाहिये।

आपने लिखा कि मैं क्या हूँ, कौन हूँ यह समझमें नहीं आता। इसका तो यह अर्थ होता है कि वास्तवमें आप इसे समझना ही नहीं चाहते। मुसीबत जिसपर आती है, जो उसे टालना चाहता है, जिसे मुसीबतका ज्ञान है, वही आप हैं।

आपने लिखा कि 'विश्वम्भर, करुणानिधान, दयासिन्धु, दयालु, प्रभु इस प्रकारके शब्दोंका तो प्रयोग ही नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं'—सो यह आप किस आधारपर लिखते हैं जब कि आपको यही पता नहीं है कि मैं कौन हूँ।

आपकी इच्छा पूर्ण नहीं होती, यह तो उचित ही है। यदि आपकी या इसी प्रकारके भाववाले अन्य मनुष्योंकी इच्छा पूर्ण होने लगे तो संसारमें सारा काम अव्यवस्थित हो जाय; क्योंकि आपकी इच्छाओंमें तो दूसरोंका अहित और अपना स्वार्थ भरा हुआ है, तभी तो आप पापमय कर्म करते हैं और भले-बुरे सभी मनुष्योंकी निन्दा करते हैं।

यदि आपको अपने जीवनसे घृणा होती है, आपके मनमें अपना सुधार करनेकी इच्छा होती है तो समझना चाहिये कि भगवान्‌की बड़ी कृपा है। सुधार चाहनेवालेका सुधार होना कठिन नहीं है, दुःखोंसे छूटनेका उपाय तो यही ठीक मालूम होता है कि उस दुःखहारी प्रभुकी शरण ग्रहण करके अपने विवेकका आदर करें तथा वह काम करें जो हम दूसरोंसे चाहते

हैं और वह कभी न करें जो हम दूसरोंसे नहीं चाहते। अर्थात् जिसको हम अपने लिये अच्छा समझते हैं, उसको सबके लिये अच्छा समझें और जिसे हम अपने लिये बुरा समझते हैं, उसे सबके लिये बुरा समझें।

✦✦

[८]

सादर हरिस्मरण।

आपका पत्र वैशाख शुक्ल पूर्णिमाका लिखा हुआ यथासमय मिला। समाचार विदित हुए। आपका उत्साह और कर्तव्यपरायणता सराहनीय है।

जो अपनेको भवरोगसे पीड़ित अनुभव करके उससे छूटना चाहता है, उससे छूटनेके लिये व्याकुल होकर भगवान्‌का स्मरण करता है, वह अवश्य छूट जाता है, यह आपको दृढ़ विश्वास रखना चाहिये।

आपने लिखा कि मुझे स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, स्वर्ग आदि किसी भी सांसारिक वस्तुओंकी कामना नहीं है, सो बहुत ही अच्छी बात है। किसी प्रकारकी कामनाका न रहना परम वैराग्यका हेतु है तथा वैराग्य होनेसे ही भगवत्प्रेम और भगवत्प्राप्ति शीघ्र हो सकती है।

एकान्त स्थानमें रुचि और भगवान्‌के भजनमें रुचि भगवान्‌की कृपासे ही होती है। निष्कामभाव भी भगवान्‌की कृपासे ही होता है। अतः आपको मानना चाहिये कि मुझपर भगवान्‌की अहैतुकी कृपाका प्राकट्य हो गया है। अतः अवश्य ही वे कृपा करके दर्शन देंगे।

विश्वास करनेयोग्य भी एकमात्र भगवान् ही हैं। अतः उनपर पूर्ण विश्वास करके उन्हींपर निर्भर हो जाना चाहिये और मानना चाहिये कि वे जो कुछ कर रहे हैं, मंगल-ही-मंगल कर रहे हैं।

मनुष्य-शरीर बड़ा ही दुर्लभ है, यह साधनधाम है—यह सब ठीक है। यह जिस कामके लिये मिला है, उसे जल्दी पूरा कर लेना चाहिये; क्योंकि यह क्षणभंगुर है। यह तो भगवान्‌की वस्तु है, इसमें मोह नहीं करके इसे भगवान्‌के समर्पण कर देना चाहिये, इसमें ममता और अहंकार नहीं करना चाहिये एवं इसके निर्वाहकी चिन्ता भी नहीं करनी चाहिये। जिसकी वस्तु है, वह स्वयं इसका पालन करनेकी सब व्यवस्था पहलेसे ही करता रहता है।

आपकी पूछी हुई बातोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) भगवान्‌ने गीता अध्याय ४ श्लोक १७ में जो यह कहा है कि कर्मकी गति गहन है, उसका यह भाव है कि कर्म करते हुए उनके बन्धनमें न पड़नेका उपाय हरेक मनुष्यकी समझमें नहीं आता। अतः साधकको चाहिये कि वह वर्तमान परिस्थितिके अनुसार कर्तव्यरूपसे प्राप्त जिस समय जो कर्म करे, उसे भगवान्‌का काम समझकर उनके आज्ञानुसार उन्हींकी प्रसन्नताके लिये सत्यता और न्यायपूर्वक ठीक-ठीक करे। भगवान्‌ने जो साधकको विवेक दिया है, उससे वह जिस कामको जिस प्रकार करना ठीक और न्याय्य समझता है, उसे ठीक उसी प्रकार करे, किसी प्रकारके काम, भय या मोहसे अपने विवेकके विरुद्ध कोई काम न करे। इस विवेककी रक्षाके लिये भारी-से-भारी विपत्तिके भयसे न डरे। उस विपत्तिको भगवान्‌का प्रसाद समझकर हर्षपूर्वक सहन कर ले, पर भगवत्-कृपासे मिले हुए विवेकका अनादर न करे तथा बड़े-से-बड़े प्रलोभनमें आकर भी विवेकके विरुद्ध कोई काम न करे। यदि कोई भूल हो जाय तो मालूम होते ही उसे फिर न करनेका दृढ़ संकल्प करे, भगवान्‌से और जिसके साथ गलती हुई हो, उससे क्षमा माँगे। इस प्रकार विवेकपूर्वक कार्य करना ही मनुष्यका कर्तव्य है।

(२) गृहस्थमें रहते हुए जो स्त्री-प्रसंगादि भोगोंका त्याग है, यह कर्मका त्याग नहीं है। कर्म और भोगमें बड़ा अन्तर है। भोगोंका त्याग करनेके लिये तो भगवान् जगह-जगह संकेत करते हैं। (गीता अ० ५ श्लोक २२ और अ० २ श्लोक १४ देखें) अतः भोगोंका त्याग तो साधकको अवश्य करना चाहिये, पर अपनी शक्तिके अनुसार अतिथि-सेवा, यज्ञ, दान, संयम, कुटुम्बपालन आदि जो गृहस्थोपयोगी कर्तव्य कर्म हैं, उनका त्याग नहीं करना चाहिये। उनका पालन प्रश्न १के उत्तरमें लिखे हुए प्रकारसे करते रहना चाहिये।

(३) पुत्रका होना साधकके लिये आवश्यक नहीं है। उसको तो समझना चाहिये कि भगवान्‌के नाते समस्त विश्व ही हमारा कुटुम्ब है। दूसरे प्रकारसे समझें तो एक प्रभु ही अपना है। माता-पिता, भाई, पुत्र-स्त्री आदि सभी भगवान्‌की चीज हैं—ऐसा मानकर सबसे ममता उठाकर एकमात्र भगवान्‌में ममता करे। और तो क्या, शरीरतकको भी अपना न समझे।

(४) भगवान्‌को पानेकी इच्छा कर्मफलकी इच्छा नहीं है; क्योंकि भगवान्‌का मिलना किसी भी कर्मका फल नहीं है। भगवान् तो प्रेमसे मिलते हैं और उनके पानेकी लालसा, उनकी याद, उनके लिये व्याकुल होना, उनका वियोग असह्य होना—ये सभी प्रेमके ही अंग हैं। भगवान्‌का जो इस प्रकारका स्मरण है, वही तो भजन और भक्ति है। यह कर्मका फल कैसे हो सकता है? इस भजनके बदलेमें भगवान्‌के सिवा किसी अन्य वस्तुको चाहना ही सकामभाव है, वह नहीं होना चाहिये।

(५) भक्तोंमें उत्तम-मध्यम श्रेणी तो अवश्य होती है, पर उस श्रेणीका विभाग शास्त्रीय ज्ञान या बुद्धिके विकासके अनुसार नहीं होता। श्रेणीका विभाग तो उनके भावके अनुसार होता है। जो

साधक सबमें भगवान्का दर्शन करता है, सबको भगवान्से उत्पन्न और उन्हींकी वस्तु समझकर अपने कर्मद्वारा सबकी सेवा करता है, किसीका अहित न तो चाहता है और न करता ही है तथा भगवान्से या अन्य किसीसे भी अपने लिये किसी प्रकारका सुख नहीं चाहता, वही उत्तम भक्त है। शबरी, मीरा, गोपियाँ, ग्वाल-बाल आदि बहुत-से भक्त हो चुके हैं, जो कि शास्त्रज्ञ न होनेपर भी उच्चश्रेणीके भक्त माने गये हैं। भगवान् तो एकमात्र प्रेमका ही नाता मानते हैं।

(६) भगवान्की अनन्य भक्ति (प्रेम)—यह साधन बड़ा ही उत्तम है। प्रश्न ५ के उत्तरमें सब बातें लिखी ही हैं। अतः साधकको चाहिये कि वह प्रभुके विधानानुसार कहीं भी रहे, चाहे घरमें रहे, चाहे वनमें, उसकी प्रत्येक क्रिया साधनरूप होनी चाहिये। खाना-पीना, सोना-जागना तथा जीविकाके लिये कर्म करना, इनके सिवा बालकोंका पालन-पोषण, गृहकार्य आदि सभी क्रियाएँ साधनरूप होनी चाहिये। जैसा कि प्रश्न १ के उत्तरमें लिखा है, उस भावसे की हुई सभी क्रियाएँ साधन हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध भगवान्से है। अतः भगवान्की स्मृति अपने-आप रहती है।

(७) प्रश्न २ के उत्तरमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि स्त्री-प्रसंगादि भोगोंका त्याग कर्मका त्याग नहीं है एवं उनका त्याग भक्तिमें सहायक है, बाधक नहीं है। भोग और कर्तव्य कर्म एक नहीं है; यह भेद समझ लेनेके बाद कोई शंका नहीं रहेगी।

(८) भाग्यमें जिस प्रकारकी परिस्थितिका सम्बन्ध होना बताया गया है, वह अवश्य होता है, परंतु प्राप्त परिस्थितिमें सुख-भोगका त्याग मनुष्य कर सकता है; क्योंकि वह पुण्यका फल है। मनुष्य दूसरेको दान कर सकता है अन्यथा यज्ञ, दान,

तप, संयम आदि नये कर्म कैसे कर सकेगा। शेष उत्तर प्रश्न २ के उत्तरमें आ ही गया है।

(९) अन्त समयमें जिस भावको स्मरण करता है उसीको प्राप्त होता है। यह सर्वथा सत्य है। इसीलिये भगवान्ने निरन्तर स्मरण करनेके लिये कहा है। अतः साधकको यह निश्चय रखना चाहिये कि जो उस प्रभुके आश्रित और उन्हींपर निर्भर हो जाता है, जिसको दूसरे किसीपर न तो भरोसा है और न किसीका सहारा ही है तथा जिसको अपने बल-बुद्धि और गुणोंका अभिमान नहीं है, जो उनके प्रेममें विह्वल और व्याकुल रहता है, उसे भगवान् जीवनकालमें ही बहुत शीघ्र मिल सकते हैं। यदि किसी कारणवश व्यवधान पड़ जाय तो अन्त समयमें वह ऊपरसे बेहोश होनेपर भी भीतरमें अपने प्यारे प्रभुको नहीं भूल सकता। क्योंकि अपने ऐसे भक्तको भगवान् स्वयं नहीं भूल सकते; अतः भक्तको इस विषयमें चिन्ता नहीं करनी चाहिये।

(१०) भगवान्के अनन्य प्रेमी भक्तका इस पांचभौतिक शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, उसका सम्बन्ध तो एकमात्र अपने परम प्रियतम प्रभुसे रहता है। अतः उस शरीरको चाहे जीव-जन्तु खाये, चाहे जलमें प्रवाहित कर दिया जाय, चाहे अग्निमें भस्म कर दिया जाय, उसके लिये सब एक ही है। उसे किसी प्रकारका दोष स्पर्श नहीं कर सकता। एवं इसमें तो कोई दोषकी बात ही नहीं है।

(११) शरीरनिर्वाहके लिये मनुष्यको अपने वर्णाश्रमानुसार ही कर्म करना चाहिये। यह ठीक है। पर आपत्कालमें अपनेसे नीचे वर्णके कर्म करनेकी भी शास्त्रोंमें आज्ञा है। इस समय आपत्काल तो मानना ही पड़ेगा। इसके सिवा यह बात भी है कि वर्णव्यवस्थामें बहुत कुछ विशृंखलता आ गयी है। अतः

साधकको चाहिये कि वह वर्तमानमें जीविकाके लिये जो कर्म करता है, वह यदि हिंसायुक्त या किसीका अहित करनेवाला न हो तो उसे न छोड़े, किंतु प्रश्न १ के उत्तरमें बताये हुए प्रकारसे उसे करता रहे।

(१२) रोगकी अवस्थामें यदि स्नानादि न किया जाय तो कोई हानि नहीं है। किंतु संध्यादि नित्य-कर्म मानसिक कर लेना चाहिये और भगवान्‌का भजन-स्मरण तो हर हालतमें हर प्रकारसे करते ही रहना चाहिये, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। खयाल रखना चाहिये कि भगवान्‌का भजन-स्मरण कर्म नहीं है, यह तो भक्तिका अंग है, प्रेम होनेसे आगे चलकर अपने-आप होने लगता है।

(१३) स्नानादि करके पहले संध्यादि नित्य-कर्मसे निपट लेना चाहिये एवं उस कर्मको भी अपने इष्टकी आज्ञा मानकर, उन्हींकी प्रसन्नताका हेतु मानकर करना चाहिये; फिर अपने इष्टका भजन-स्मरण-ध्यान तो निरन्तर करना ही है।

(१४) संध्याके लिये बताये हुए उत्तम कालमें यदि मालिकसे छुट्टी न मिल सके और जहाँ काम करते हैं वहाँ मानसिक करनेके लिये भी समय न मिल सके तो जब छुट्टी मिले, पहले संध्योपासना करके ही भोजन करना चाहिये।

(१५) लिंग नाम चिह्नका है; अतः इसमें कोई शंकाकी बात नहीं। मिट्टीके ढेलेको, एक सुपारीको भी गणेश मानकर पूजा की जाती है तथा कुशा और अपामार्गके सप्तर्षि बनाकर उनकी पूजा की जाती है। इसी प्रकार दूसरे-दूसरे देवताओंके भी किसी-न-किसी प्रकारके चिह्न बनाकर उनकी पूजा की जाती है एवं शंकर भगवान्‌की भी मूर्ति और चित्र आदि पूजे जाते हैं। अतः यहाँ लिंगका अर्थ उपस्थ-इन्द्रिय नहीं मानना चाहिये।

(१६) भगवान्‌के भक्तको भगवान्‌की कृपाका भरोसा करके

सदैव निर्भय रहना चाहिये। भगवद्भक्तका कभी किसी भी प्रकारसे अनिष्ट नहीं हो सकता—यह निश्चित सिद्धान्त है। गीता अ० ६ श्लोक ४० और अ० ९ श्लोक ३१ देखना चाहिये। शरीर-निर्वाहकी भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। निर्वाह करते-करते भी तो वह चला ही जायगा। उसका वियोग तो निश्चित है, फिर चिन्ता किस बातकी? साधकको तो अपने प्रभुपर ही निर्भर रहना चाहिये। झूठ, कपट उसे क्यों करना चाहिये?

(१७) साधकके लिये घर, वन और पर्वत आदिमें कोई भेद नहीं है। उसे भगवान् जिस अवस्थामें और जिस जगह रखते हैं, वहीं वह प्रसन्न रहता है; क्योंकि उसके प्रियतम सभी जगह हैं, उसे तो उनकी आज्ञाका अनुसरण करना है और उन्हींकी प्रसन्नतामें प्रसन्न रहना है। फिर वह परिस्थिति बदलनेकी या बनी रहनेकी इच्छा ही क्यों करे?

रही लड़कीकी बात, सो उसे भी अपनी लड़की न मानकर भगवान्‌की लड़की समझना चाहिये और यथायोग्य उसका पालन-पोषण करते रहना चाहिये। उसके लिये प्रभुने जिस वरकी रचना की होगी उसके साथ सम्बन्ध होगा। इसमें आपको चिन्ता क्यों करनी चाहिये? इस बातको भगवान्‌पर ही छोड़ देना चाहिये। वे जैसा ठीक समझेंगे वैसा स्वयं करेंगे। वे सर्वसमर्थ हैं। लड़की तो उनकी है, आप अपनी क्यों मानते हैं? आपको तो चाहिये कि एकमात्र भगवान्‌को ही अपना मानें और निमित्तमात्र बनकर वे करवावें, वैसे ही चेष्टा करते रहें।

(१८) वर्तमान स्थूल शरीर छूट जानेके बाद जीवात्मा सूक्ष्म शरीरके सहित परलोक आदिमें गमन करता है। गीता अ० १५ श्लोक ७ और ८ में इसका स्पष्टीकरण है।

(१९) संजयने युद्धके दस रोज बाद ही कथा सुनाना आरम्भ किया था। यही बात महाभारतमें लिखी है। धृतराष्ट्र बीचमें युद्ध-समाचार साधारणतया सुन लिया करता होगा, पर विशेष जानकारीके लिये उसने संजयसे प्रश्न किया, यह बात माननेमें कोई अड़चन नहीं है। क्योंकि 'क्या किया?' इस प्रश्नका यह अभिप्राय नहीं है कि युद्ध किया या नहीं। इसका यह भाव है कि किस प्रकारके क्रमसे युद्ध हुआ। अतः कोई विरोध नहीं है।

(२०) अर्जुनने जो अभिमन्युकी मृत्युके समय शोक किया, वह लोकसंग्रहके लिये लीलाके रूपमें किया—ऐसा मानना चाहिये; जैसे कि भगवान् श्रीरामने सीता और लक्ष्मणके लिये किया था।

(२१) भीष्म और द्रोण आदि राष्ट्रके मन्त्री थे, इसलिये उनको दुर्योधनकी ओरसे युद्ध करना पड़ा, पर उन्होंने कोई पक्षपात नहीं किया। धर्मानुसार अपने कर्तव्यका पालन किया। इसमें कोई दोषकी बात नहीं थी।

(२२) गजराजने किस नामसे पुकारा था—यह तो वहाँके प्रसंगमें देखना चाहिये। पर यह निश्चित बात है कि वह भगवान्‌को जिस रूपमें देखना चाहता था, वे उसी रूपमें आये। भगवान् विष्णुका नाम भी राम है। विष्णुसहस्रनाम देखिये। अतः कोई विरोध नहीं है।

(२३) भक्त बहुत हुए हैं। उनकी जीवनी भक्तमालमें तथा 'कल्याण' में प्रकाशित भक्तगाथामें, भक्तांकमें, भक्तचरितांकमें भी देख सकते हैं एवं गीताप्रेससे प्रकाशित भक्तगाथाकी विभिन्न पुस्तकोंमें देख सकते हैं। भक्तबालक, भक्तनारी आदि अनेक पुस्तकें हैं। नामदेव, धन्ना, नरसी आदि अनेक बे-पढ़े भी भक्त हुए हैं।

✦✦

[९]

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार मालूम हुए, आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) निर्गुण, सगुण, निराकार और साकार सभी उस परब्रह्म परमात्माके ही स्वरूप हैं, अतः जिस साधकका जिस स्वरूपमें श्रद्धा-प्रेम हो, जिसकी उपासना वह बिना किसी कठिनाईके कर सकता हो, उसके लिये वही ठीक है। आपने निर्गुण स्वरूपकी उपासनाका प्रकार पूछा, सो यह उपासना ज्ञानमार्गके अनुसार की जाती है। निर्गुणकी उपासनाके लिये सब प्रकारकी भोगवासनाका त्याग कर कर्तापनके अभिमानसे शून्य होना आवश्यक है तथा शरीरमें जो मैं और मेरापन है इसका सर्वथा त्याग करना चाहिये। फिर एकमात्र सच्चिदानन्द परब्रह्मके चिन्तनमें तल्लीन होकर सब प्रकारके चिन्तनसे रहित हो जाना चाहिये। उपासनाका पूरा प्रकार पत्रद्वारा कहाँतक समझाया जाय।

(२) हृदयमें ध्यान आत्मस्वरूपमें मन लगाकर भी किया जाता है, परमात्माको सर्वव्यापी आकाशकी भाँति सर्वत्र परिपूर्ण मानकर भी उसके सच्चिदानन्दघन स्वरूपका ध्यान किया जा सकता है। जिस साधककी जैसी रुचि हो, जैसा विश्वास हो, जैसी योग्यता हो, उसे वैसा ही करना चाहिये।

(३) ध्यान करते समय जबतक नामका ज्ञान रहे, तबतक नाम-स्मरण करते रहना चाहिये।

(४) नियमितरूपसे एकान्तमें बैठकर सुबह और संध्याके समय तो ध्यान करना ही चाहिये, उसके अतिरिक्त अन्य समयमें भी जब अवकाश मिले, करना चाहिये तथा काम करते समय भी भगवान्‌का स्मरण रखना बहुत अच्छा और आवश्यक है।

(५) भगवान्‌के ध्यानमें मन टिकनेका तरीका या साधन पूछा

सो पहले यह विचार करना चाहिये कि मन क्यों नहीं टिकता। विचार करनेपर जो-जो विरोधी कारण समझमें आयें उनको दूर करते रहना चाहिये। मन न टिकनेका दुःख होना चाहिये, मनको ध्यानमें टिकाना है—यह उद्देश्य होना चाहिये। भगवान्‌में प्रेम होनेपर भगवान्‌का ध्यान अपने-आप होने लगता है। अतः जिन-जिन सांसारिक पदार्थोंमें प्रेम है, जिनको आप सुखका हेतु मानते हैं, जिनके साथ अपनेपनका सम्बन्ध जोड़ रखा है, उनसे सम्बन्ध-विच्छेद करके भगवान्‌में प्रेम करना चाहिये। उनको ही अपना परम हितैषी मानना चाहिये। ऐसा करनेसे ध्यानमें मन लग सकता है।

(६) इसका उत्तर नम्बर दोके उत्तरमें आ गया है, इसलिये दुबारा नहीं लिखा है।

(७) सगुण स्वरूपकी उपासनाका तरीका एक नहीं है। साधकोंके श्रद्धा-विश्वास, प्रेम और योग्यताके भेदसे अनेक भेद होते हैं। आपको अपने लिये जो तरीका सुगम मालूम हो, जिसमें आपका प्रेम हो, जिसपर श्रद्धा-विश्वास हो, वही आपके लिये ठीक है और वही सुगम भी होगा। सगुण परमेश्वर निराकार भी हैं और साकार भी। वह अनन्त दिव्य गुणोंसे भरपूर हैं, अनन्त दिव्य सामर्थ्यसे सम्पन्न हैं और उनका रूप-सौन्दर्य भी परम दिव्य तथा अलौकिक है, उसका वर्णन लेखनीद्वारा नहीं किया जा सकता। वह तो उनकी कृपासे ही समझमें आता है, अतः उनकी शरण लेकर लालसापूर्वक उनपर निर्भर होना चाहिये।

(८) निर्गुण-उपासक यदि श्रीकृष्णकी मानस पूजा करे तो कोई हानि नहीं है; क्योंकि श्रीकृष्ण और उनके निर्गुण स्वरूपमें कोई भेद नहीं है। दोनों एक ही हैं। जो निर्गुण है, वही सगुण है और जो सगुण है वही निर्गुण है तथा वही श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट होते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण समस्त ब्रह्माण्डमें परिपूर्ण हैं और समस्त ब्रह्माण्ड ही नहीं, करोड़ों ब्रह्माण्ड उनके एक अंशमें स्थित हैं, ऐसा समझकर उनका ध्यान करना चाहिये।

✦✦

[१०]

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार मालूम हुए। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

(१) आप सुबह एक बार संध्या करते हैं, सो मालूम हुआ, यदि सायंकाल भी किया करें तो और भी अच्छा है।

गायत्री-मन्त्रका जप करते समय देवीका ध्यान न करके अपने इष्टदेव परमेश्वरका ध्यान करना चाहिये; क्योंकि गायत्री-मन्त्रमें परमेश्वरकी ही स्तुति-प्रार्थना और उनके ध्यानका वर्णन है। गायत्री देवी तो उस मन्त्रकी और छन्दकी अधिष्ठात्री देवता हैं, उसमें उनके स्वरूपका वर्णन नहीं है; अतः जप करते समय भगवान्‌का ध्यान और मन्त्रके अर्थका ज्ञान रहना परम आवश्यक है।

(२) जब चित्त शुद्ध हो जाता है, उसके बाद बुरे विचार बंद हो जाते हैं। जबतक चित्तमें अशुद्धि रहती है, तबतक उनका समूल नाश नहीं होता; इसलिये वे समय-समयपर प्रकट होते रहते हैं। अतः साधकको चाहिये कि अपने अन्तःकरणको शुद्ध बनाये। अर्थात् किसी भी प्राणीका अहित न तो क्रियाद्वारा करे, न मनसे ही चाहे। सबका हित हो वही काम करे और सबका भला हो वही भाव रखे। ऐसा करनेसे राग-द्वेषका नाश होनेपर चित्त शुद्ध हो जाता है।

(३) सुबह-शाम घरमें बैठकर जप करें, उस समय यदि जपकी संख्या मालूम करनी हो तब तो मालापर जप करना चाहिये, नहीं तो बिना माला और संख्याके भी कर सकते हैं।

माला तुलसी या चन्दनकी हो तो अच्छी है। स्फटिकमणिकी और रुद्राक्षकी भी हो तो कोई बात नहीं है।

(४) सोते हुए रामनामका या षोडश मन्त्रका जप किया जा सकता है, कोई मनाही नहीं है। जो लोग कहते हैं कि सोते-सोते जप नहीं करना चाहिये, उनका कहना वैदिक-मन्त्र-जपके विषयमें है—ऐसा समझना चाहिये; क्योंकि उसमें विधि-विधानकी आवश्यकता है। भगवान्‌के नामका जप तो हर समय, हर अवस्थामें करना ही चाहिये। षोडश मन्त्रके जपके विषयमें तो कलिसंतरणोपनिषद्‌में स्पष्ट लिखा है कि शुद्ध हो या अशुद्ध, किसी भी अवस्थामें इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

✦✦

[११]

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार विदित हुए। आपकी शंकाओंका उत्तर क्रमसे नीचे लिखा जाता है—

आपने ईश्वरका अस्तित्व नहीं होनेका जो यह कारण बताया कि आजतक कोई उनतक पहुँच नहीं पाया, सो यह आप किस आधारपर लिख रहे हैं। उनतक पहुँचनेके लिये वास्तविक खोजमें लग जानेवालोंमेंसे बहुत-से लोग वहाँ पहुँचे हैं और आज भी पहुँच सकते हैं। अतः आपका यह तर्क सर्वथा निराधार है।

आपने लिखा कि लाखों-करोड़ों वर्षोंतक तपस्या करके भी पार नहीं पाया जा सकता। पर यदि कोई गलत रास्तेसे प्रयास करे या किसी दूसरी वस्तुको पानेके लिये प्रयास करे और वह ईश्वरको न पा सके तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? वरं गीतामें तो भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि 'साधक पराभक्तिके द्वारा मुझको, मैं जो हूँ और जैसा हूँ तत्त्वसे जान लेता है और फिर मुझमें ही प्रविष्ट हो जाता है (गीता अ० १८ श्लोक ५५)।' तथा वे पहले

भी कह आये हैं कि 'पहले ज्ञानतपसे पवित्र हुए बहुत-से साधक मेरे भावको प्राप्त हो चुके हैं (गीता ४। १०)।' 'इस ज्ञानको जानकर सभी मुनिलोग परम सिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं इत्यादि (गीता १४। १-२)।' अतः आपका यह कहना कि उसे कोई नहीं जान सका, निराधार सिद्ध होता है।

उसका आदि, अन्त और मध्य न जाननेकी जो बात कही गयी है, वह तो उस तत्त्वको असीम और अनन्त बतानेके लिये है। वेदोंने जो 'नेति-नेति' कहा है, उसका भी यही भाव है कि वह जितना बताया गया उतना ही नहीं है, उससे अधिक भी है। अतः इससे उसका अभाव सिद्ध नहीं होता।

आप गम्भीरतासे विचार करें। वैज्ञानिकलोग जो प्रकृतिका अध्ययन करके नये-नये आविष्कार कर रहे हैं, क्या वे कह सकते हैं कि हमने प्रकृतिको पूर्णतया जान लिया है, अब कोई आविष्कार शेष नहीं रहा है? यदि ऐसा नहीं कह सकते तो क्या इतनेसे यह मान लेना चाहिये कि उसका अस्तित्व ही नहीं है?

बात तो यह है कि किसी भी असीम तत्त्वकी सीमा कोई निर्धारित नहीं कर सकता। यदि कोई कहे कि मैं उसे पूर्णतया जान गया तो उस व्यक्तिका ऐसा कहना कहाँतक उचित होगा? और इस कसौटीपर असीम तत्त्वके अस्तित्वको अस्वीकार करना भी कहाँतक युक्तिसंगत है, इसपर भी आप विचार करें।

आपने लिखा कि जो है भी और नहीं भी है—ऐसी ईश्वरकी व्याख्या है, सो ऐसी व्याख्या कहाँ है? यह कौन कह सकता है कि 'अमुक वस्तु नहीं है'; क्योंकि यह निश्चय करनेवाला भी तो कोई सर्वज्ञ ही होना चाहिये। 'अमुक वस्तु है या नहीं', ऐसा संदेह तो कोई भी कर सकता है पर 'नहीं है' यह कहनेका

किसीका भी अधिकार नहीं है। फिर ईश्वरके बारेमें यह कहना कि 'वह नहीं है'—यह तो सर्वथा अनुचित है।

ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, साकार और निराकार भी है—यह कहना ठीक है और सर्वथा युक्तिसंगत है।

आपने लिखा कि ईश्वर कुछ नहीं है, केवल कल्पना है; क्योंकि 'सब कुछ' का अर्थ 'कुछ नहीं' अर्थात् 'शून्य'—होता है, सो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि ईश्वरको कल्पनासे अतीत बताया गया है। गीता अध्याय ८ श्लोक ९ में उसे 'अचिन्त्य रूप' कहा गया है।

आगे चलकर आपने लिखा कि 'क्या जो चैतन्य-रूप दीखता है यही ईश्वर है?' इसका उत्तर यह है कि जिस हलचल और शक्तिको लक्ष्य करके आपने चैतन्यकी व्याख्या की है इसका नाम चेतन नहीं है। शब्द तो आकाश-तत्त्वका गुण है, शक्ति बिजलीका गुण है। वेग वायुका गुण है। ये सभी जड तत्त्व हैं। इनमें कोई भी चैतन्य नहीं है। चैतन्य तो वह तत्त्व है, जो इन सबको जानता है और इनका निर्माण भी करता है। जो वस्तु निर्माण की जाती है, किसीके द्वारा संचालित होती है, वह चैतन्य कैसे हो सकती है, यदि चेतनकी व्याख्या आप ठीक-ठीक समझ पाते तो सम्भव है आपको ईश्वरकी सत्ताका कुछ अनुभव होता। मनुष्यको ईश्वरका पता लगानेके पहले यह सोचना चाहिये कि मैं जो 'ईश्वरकी सत्ता है या नहीं' इसका निश्चय करना चाहता हूँ, वह मैं कौन हूँ। जिसमें जाननेकी अभिलाषा है और जो अपने-आपको तथा अपनेसे भिन्नको भी जानता है, प्रकाशित करता है, वही चेतन हो सकता है। यह समझमें आ जानेपर आगेकी खोज आरम्भ होगी।

आपने कल-कारखानोंकी बात लिखी, कोयले और पानीके

मिश्रणकी, उसकी शक्तिकी बातोंपर प्रकाश डाला, फिर बिजलीकी महिमाका वर्णन किया सो तो ठीक है, पर उनका आविष्कार करनेवालोंकी महिमाकी ओर आपका ध्यान नहीं गया। आप सोचिये, क्या वे कल-कारखाने बिना कर्ताके सहयोगके कुछ भी चमत्कार दिखा सकते हैं? यदि नहीं तो विशेषता उनको बनाने और चलानेवालेकी ही सिद्ध हुई।

आपने मानव-शरीरको पाँच तत्त्वोंसे बना हुआ बताया, यह तो ठीक है। शरीर तो सभी प्राणियोंके पाँच तत्त्वोंसे ही बने हैं। पर पाँच तत्त्वोंका समूह तो केवलमात्र यह दीखनेवाला स्थूल शरीर ही है। मन, बुद्धि और अहंकार—ये तीन तत्त्व इसके अन्दर और हैं तथा इन सबको जानने और प्रकाशित करनेवाला एक इनका अधिष्ठाता संचालक भी है। उसकी ओर भी आपका ध्यान आकर्षित होना चाहिये। उसके बिना इन सब तत्त्वोंका कोई भी चमत्कार हो ही नहीं सकता। वह कौन है?—इसपर विचार कीजिये।

आगे चलकर आपने सूर्य, चन्द्र, तारा आदिके विषयमें विज्ञानके आधारपर लिखा कि ये सब अपने-आप हो रहे हैं, परंतु आपने गहराईसे विचार नहीं किया। करते तो आप यह भी समझ सकते कि कोई भी जड पदार्थ बिना किसी संचालकके बहुत कालतक नियमित-रूपसे नहीं चल सकता। जितना भी वैज्ञानिक आविष्कार है—जैसे अणु बम, रेडियो, बिजली और स्टीमसे होनेवाले काम, हवाई जहाज आदि, क्या कोई भी यन्त्र अपने-आप बन जाता है या उसका संचालन अपने-आप हो जाता है? यदि नहीं, तो फिर ये सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, तारा आदि यन्त्र अपने-आप कैसे बन गये और अपने-आप नियमित-रूपमें कैसे संचालित होने लगे?

आपने लिखा कि 'जहाँ बुद्धि काम न दे, वहाँ ईश्वरको मान ले' सो ऐसी बात नहीं है। बुद्धि तो मनुष्यकी प्रकृतितक भी नहीं पहुँच पाती, पर उस जड प्रकृतिको शास्त्रकारोंने ईश्वर नहीं मान लिया। उस प्रकृतिके आंशिक संचालक और प्रकाशकको भी ईश्वर नहीं माना; हाँ, ईश्वरका अंश तो माना है। अतः उसकी सत्तासे ही ईश्वरकी सत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

अज्ञानका नाम ईश्वर नहीं है। जो ज्ञान और अज्ञान—दोनोंको जाननेवाला है, उसका नाम ईश्वर है।

मायाकी व्याख्या तो श्रीतुलसीदासजीने इस प्रकार की है—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥

(रामचरितमानस, अरण्य० १४। २)

अतः जाननेमें न आनेवाली वस्तुका नाम माया नहीं बताया गया है।

आपने धर्मग्रन्थ और मत-मतान्तरोंपर आक्षेप करते हुए लिखा कि 'किसकी मान्यता ठीक है, कोई कुछ कहते हैं और कोई कुछ कहते हैं। यदि ईश्वर होता तो सबका एक ही मत होता।' यहाँ आपको गम्भीरतासे शान्तिपूर्वक विचार करना चाहिये। यह तो हरेक विचारशील व्यक्तिको मानना ही पड़ेगा कि जिस तत्त्वको कोई जानना चाहता है, उसके विषयमें पहले कुछ-न-कुछ मानना पड़ता है और वह मान्यता वास्तविक सत्य न होनेपर भी सत्यका ज्ञान करानेमें हेतु होनेके कारण सत्य है। जैसे—अंग्रेजी लिपिमें 'K' इस आकारको 'क' माना, उसके आगे एक 'h' चिह्न और लगाकर उसे 'ख' मान लिया, इसी प्रकार सब वर्ण और संकेतोंके विषयमें समझ लें। उर्दूमें दूसरे ही संकेत हैं, बँगलामें दूसरे हैं और तमिल, तेलुगु आदि दक्षिणी लिपियोंमें दूसरे हैं तथा उन-उन भाषा-भाषियोंके लिये अपनी-

अपनी भाषाके माने हुए चिह्न ही सत्य हैं; क्योंकि वे किसी भी जाननेमें आनेवाली वस्तुका ज्ञान करानेमें पूरे सहायक हैं। यदि ऐसा न माना जाता तो आज जगत्में कोई विद्वान् हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार उस परम सत्य तत्त्वको समझानेके लिये हरेक मतावलम्बीने जो अपने-अपने संकेत बनाये हैं, वे साधकोंके लिये पथ-प्रदर्शक होनेके नाते सभी सत्य हैं। यद्यपि जितने मत हैं, सभी मान्यता हैं, पर बिना मान्यताके हमारा कोई भी छोटे-से-छोटा काम भी नहीं चलता; फिर ईश्वरके लिये की जानेवाली मान्यता हमें क्यों अखरती है। क्या छोटी-से-छोटी वस्तुका ज्ञान करानेके लिये वैज्ञानिकोंको विभिन्न संकेतोंका आश्रय नहीं लेना पड़ता? क्या इस कारणको लेकर आविष्कृत वस्तुकी सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती? ऐसा तो कोई भी नहीं मान सकता।

बीजगणितमें तो सारा काम मान्यताके ही आधारपर चलता है तथा वैज्ञानिक आविष्कारोंमें भी मान्यता और बीजगणितका ही आश्रय लेना पड़ता है। यह सभी वैज्ञानिकोंका अनुभव है। परम सत्य ईश्वरतत्त्वको जानना कोई साधारण विज्ञान नहीं है। अतः उसके लिये तरह-तरहकी मान्यता भी अनिवार्य है; क्योंकि साधकोंकी रुचि, योग्यता, बुद्धि और श्रद्धा भिन्न-भिन्न होनेसे भेद होना अनिवार्य है। अतः मत-मतान्तरोंकी अनेकतासे एक ईश्वरका होना असिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये आपका यह लिखना कि ईश्वर नामकी कोई वस्तु नहीं है, किसी प्रकार भी युक्तिसंगत नहीं, केवल प्रमादमात्र है।

'ईश्वरको न माननेसे मनुष्य वाममार्गी, अत्याचारी, व्यभिचारी हो जायगा, समाजभ्रष्ट हो जायगा, इसलिये ईश्वरको मानना चाहिये', ऐसी बात नहीं है। जो वस्तु नहीं है उसे मानना तो

स्वयं अत्याचार है, उससे अत्याचार आदिका निवारण कैसे होगा? अतः उपर्युक्त दुर्गुणोंकी नाशक भी सच्ची मान्यता ही हो सकती है और वही बात शास्त्रकारोंने बतायी है, मिथ्या कल्पना नहीं है।

इसी प्रकार धर्म, पुनर्जन्म, मुक्ति आदि कोई भी बात कल्पित या मिथ्या नहीं है। झूठसे कभी किसीका कोई लाभ नहीं होता, यही निश्चित निर्णय है। झूठ तो अधर्म है ही, उसे धर्म कैसे कहा जा सकता है?

हमारा धर्मशास्त्र और आध्यात्मिक शास्त्र ढकोसला नहीं है, वास्तविक हानि-लाभको ही समझानेवाला है; अतः यही एकमात्र सुधारका रास्ता है। आज उसके नामपर दुनियामें दम्भ बढ़ गया है, इसी कारण अनुभवसे रहित नवशिक्षित पाश्चात्य शिक्षाके प्रभावमें आये हुए पुरुषोंको धर्म और ईश्वरपर आक्षेप करनेका मौका मिल गया है।

आगे चलकर आपने पूजा-पाठपर आक्षेप किया है, वह भी विचारकी कमीका ही द्योतक है। आपको गहराईसे विचार करना चाहिये कि क्या ऐसा कोई भी मजदूर या परिश्रम करनेवाला मनुष्य है जिसको चौबीसों घंटे फुरसत ही नहीं है, उसका सब-का-सब समय शरीर-निर्वाहके लिये आवश्यक वस्तुओंके उपार्जनमें ही लग जाता है। विचार करनेपर ऐसा एक भी मनुष्य नहीं मिलेगा। उसे भगवान्‌का भजन-स्मरण और सत्संग-स्वाध्यायके लिये समय चाहे न मिले पर खेलने, मन बहलाने, सिनेमा देखने और अन्यान्य व्यर्थ कामोंके लिये तो समय मिलता ही है। इसके सिवा हमारे धर्म-शास्त्रोंमें तो यह भी बताया गया है कि जिस मनुष्यका जो कर्तव्यकर्म है, उसीको ठीक-ठीक उचित रीतिसे करके उसके द्वारा ही वह

ईश्वरकी पूजा कर सकता है। अतः इसमें न तो किसी प्रकारका खर्च है न किसी वस्तुकी जरूरत है, न कोई समयकी ही आवश्यकता है। ऐसी पूजा तो हरेक मनुष्य बिना किसी कठिनाईके कर सकता है। आप गीता-तत्त्वविवेचनी अध्याय १८ श्लोक ४५, ४६ और उसकी टीकाको देखिये।

अतः आपका यह आक्षेप कि 'जो धनी-मानी, सेठ-साहूकार निठल्ले बैठे रहते हैं, उन्हें पूजा-पाठसे मन बहलाना चाहिये'—सर्वथा युक्तिविरुद्ध है; क्योंकि कोई भी मनुष्य आपको ऐसा नहीं मिलेगा जिसको मन बहलाते हुए शान्ति मिल गयी हो। शान्ति तो मनको भोगकामनासे हटाकर भगवान्में लगानेसे ही मिलेगी, जो कि सहजमें ही किया जा सकता है।

आप गीताका नित्य पाठ करते हैं, कल्याणका मनन करते हैं, गायत्री-जप करते हैं यह बड़े सौभाग्यकी बात है। परंतु गीताके अनुसार अपना जीवन बनानेकी चेष्टा करें।

[१२]

आपका कार्ड मिला। समाचार मालूम हुए। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) यह तो आपको मान ही लेना चाहिये कि भगवान् एक ही है। उसके चाहे जितने स्वरूप हों, वह चाहे जिस वेषमें रहे, पर है एक और वही साधकका इष्ट होना चाहिये। इस परिस्थितिमें यदि आप अपने इष्टको विष्णुरूपमें बुलाना चाहते हैं और वह श्रीकृष्णरूपमें आपके सामने प्रकट होता है तो समझना चाहिये कि भगवान् मेरी इच्छाके अनुसार न करके अपनी इच्छाके अनुसार कर रहे हैं, यह उनकी कितनी कृपा है।

इसलिये उसका तो अधिक आदर करना चाहिये। मेरा हित किसमें है इसका मुझे क्या पता? प्रभु सब कुछ जानते हैं, उनसे कुछ छिपा नहीं है। अतः वे जो कुछ करते हैं, वही ठीक है। ऐसा मानकर आपको भगवान्‌के प्रेममें विह्वल हो जाना चाहिये और जो अपने-आप सामने आये, उन श्रीकृष्णकी उस स्वरूप-माधुरीका पान करते रहना चाहिये। उस रूपमें भी तो आपके इष्ट ही आते हैं, फिर आपके इष्टके ध्यानमें बाधा कैसी?

(२) प्रकृति स्वयं गतिशील है, यह तो माना जा सकता है; परन्तु वह न तो अपनेको जानती है और न अपनेसे भिन्नको ही जान सकती है। फिर वह कौन है जो उस प्रकृतिका नियमानुसार संचालन करता है, जीवोंको उनके कर्मानुसार फलभोग कराता है और कर्मबन्धनसे मुक्त भी करता है? बिना चेतनके सहयोगके प्रकृति कोई भी ऐसा काम नहीं कर सकती, जो नियमानुसार चलता रहे और उसमें कोई व्यवधान न पड़े। अतः यह सिद्ध होता है कि उसका एक संचालक सर्वशक्तिमान् अवश्य है। वही ईश्वर है।

आपने पूछा कि यदि प्रत्येक वस्तुको कोई बनानेवाला है तो भगवान्‌को बनानेवाला कौन है? इसका यह उत्तर है कि जगत्‌के बनानेवालेका बनानेवाला कोई नहीं होता, वह बनानेवाला तो स्वतःसिद्ध होता है; क्योंकि वह जड वस्तु नहीं है, स्वयंप्रकाश सर्वशक्तिमान् है, इसीलिये वह भगवान् है।

जिस तत्त्वको हम जानना चाहते हैं, उसके जानकारोंकी बातपर विश्वास करके पहले मानते हैं तभी उसे जानते हैं, उसी प्रकार ईश्वरतत्त्वको समझनेके लिये भी पहले उसे जाननेवाले महापुरुषों और उसे जाननेकी प्रक्रियापर विश्वास करना उचित है। बिना विश्वासके मनुष्यका छोटे-से-छोटा कोई भी काम नहीं

चलता, इसलिये भी विश्वास करना ही जाननेका उपाय है; यह बात सिद्ध होती है।

भगवान् है—यह विश्वास मनुष्यको इसलिये भी करना चाहिये कि उसको स्वयं अपने होनेका प्रत्यक्ष बोध है। कोई भी प्राणी यह नहीं समझता कि मैं नहीं हूँ। अतः उसे विचार करना चाहिये कि मैं कौन हूँ। विचार करनेपर पता लगेगा कि शरीर तो मैं नहीं हो सकता; क्योंकि यह बदलता रहता है और मैं नहीं बदलता; मेरा शरीर आजके दस वर्ष पहले जो था, वह अब नहीं रहा; पर मैं वही हूँ जो उस समय था; क्योंकि उस समयकी और उससे पहलेकी घटनाएँ मुझे मालूम हैं।

फिर विचार करना चाहिये कि मैं शरीर नहीं तो क्या मैं मन और बुद्धि हूँ। विचार करनेपर पता चलेगा कि मैं मन-बुद्धि भी नहीं हो सकता; क्योंकि उनको मैं जानता हूँ और जाननेमें आनेवाली वस्तुसे जाननेवाला सदैव भिन्न हुआ करता है।

फिर विचार करना चाहिये कि मैं कौन हूँ, किसके आश्रित हूँ और मेरा आधार क्या है? विचार करनेपर पता लगेगा कि जो मेरे ज्ञानका विषय है, जिसको मैं जान सकता हूँ, वह न तो मेरा आधार हो सकता है और न वह मैं ही हो सकता हूँ; क्योंकि जाननेमें आनेवाली सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील और नाशवान् हैं एवं मैं सदा एकरस और अविनाशी हूँ। अतः मेरा आधार, संचालक और प्रेरक भी कोई चेतन अविनाशी ही हो सकता है और वही भगवान् है। इस प्रकार अपनी सत्ताको तथा परिमित सामर्थ्य और ज्ञानको देखकर किसी अपरिमित ज्ञान-बल-वीर्ययुक्त नित्य अविनाशी चेतन शक्तिका होना स्वतः समझमें आना चाहिये।

[१३]

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण। आपका कार्ड मिला। समाचार मालूम हुए। आपने लिखा कि मैं जीवात्मा मायामें लिपटनेसे अपने स्वरूपको भूल गया हूँ, सो यह तो आपकी सुनी हुई बात है। यदि इस बातको आप समझ लेते या मान लेते तो तत्काल ही मायाके बन्धनसे छूट जाते।

गृहस्थका निर्वाह तो आपके न रहनेपर भी होता ही रहेगा। आपकी जो यह मान्यता है कि मैं गृहस्थका निर्वाह करता हूँ, यह तो केवल अभिमान-मात्र है।

जीव चेतन है, सर्वव्यापी भगवान्‌का अंश है। इसमें तो कोई संदेह नहीं है। पर जीवको भगवान्‌से अलग करनेवाला केवल स्थूल शरीर ही नहीं है, इसके सिवा सूक्ष्म और कारण शरीर भी हैं। अतः जबतक तीनों शरीरोंसे जीवका सम्बन्ध नहीं छूटता, तबतक वह जन्म-मृत्युसे नहीं छूटता। उसका एक स्थूल शरीरको छोड़कर दूसरे स्थूल शरीरमें जाना सूक्ष्म और कारण शरीरको लेकर होता है। इसका खुलासा गीता-तत्त्वविवेचनी टीका अ० १५ श्लोक ७, ८, ९ में देखना चाहिये।

माता-पिता न हों तो सबके माता-पिता परमेश्वर तो हैं ही, उनको प्रणाम करना चाहिये तथा साधु, ब्राह्मण और अपनेसे बड़ोंको प्रणाम करना चाहिये एवं सबके हृदयमें स्थित भगवान्‌को प्रणाम करना चाहिये।

जबतक आप झूठ बोलते हैं, तबतक एक बात बोलनेसे ग्राहक न पटे इसमें क्या आश्चर्य है; क्योंकि उनको कैसे खातिर हो कि आप सच बोलते हैं। यदि स्वार्थको छोड़कर आप सत्यके पालनपर दृढ़ हो जायँ तो फिर ग्राहक आपको ढूँढ़ते फिर सकते हैं।

✦✦

[१४]

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार मालूम हुए। उत्तर इस प्रकार है—

गोपियाँ सभी एक श्रेणीकी नहीं थीं। उनमें बहुत-सी गोपियाँ ऐसी थीं, जिनमें पूर्णतया निष्कामता आ गयी थी। निष्काम साधक होता है इसीलिये उसके साधनको निष्काम कहा जाता है।

आपका यह कहना ठीक है कि जबतक मनुष्यका तीनों शरीरोंमेंसे किसी भी शरीरमें अहंभाव रहता है या ममता रहती है, तबतक वह पूर्ण निष्काम नहीं हो सकता। पर इसका अर्थ यह नहीं कि शरीरमें प्राण रहते कोई साधक कामनारहित जीवन प्राप्त नहीं कर सकता।

आपकी यह मान्यता कि 'कर्ता जो कुछ भी जिस रूपमें करता है वह अपने सुखके लिये ही करता है'—आपके लिये ठीक हो सकती है, पर सबकी मान्यता एक-सी नहीं हो सकती; क्योंकि रुचि, विश्वास और योग्यताके भेदसे मान्यता भिन्न-भिन्न होती है। सिद्धान्तका वर्णन कोई कर नहीं सकता; क्योंकि वह वाणीका विषय नहीं है।

आपने लिखा कि 'स्वेच्छासे जो कुछ किया जाता है वह अपने सुखके लिये ही किया जाता है।' इसपर यह विचार करना चाहिये कि स्वेच्छा और कामनामें भेद क्या है। यदि कोई भेद नहीं है तो आपका कहना इस अंशमें ठीक ही है। पर यदि भेद माना जाय तो सुखकी कामनाके बिना भी कर्म किया जा सकता है।

महाराज रन्तिदेवके विषयमें आपने जो अपनी समझ व्यक्त की, उस विषयमें मैं क्या लिखूँ। उनका क्या भाव था, वास्तवमें दूसरा नहीं बता सकता। ऊपरके व्यवहारसे भावका पूर्णतया पता नहीं चलता। पर यह अवश्य माना जाता है कि जिसका सब

प्राणियोंमें आत्मभाव हो गया है, जो सब प्राणियोंके हितमें रत है, वह साधारण व्यक्ति नहीं है।

आपने जो इस विषयकी व्याख्या की है वह भौतिक विज्ञानकी दृष्टिसे ठीक है, पर आध्यात्मिक दृष्टिसे दूसरी बात है।

आपने जो यह लिखा कि 'जीव अपनेको जबतक पृथक् मानता है इत्यादि' इनपर विचार करना चाहिये। जीव कौन है? उसका पृथक् मानना क्या है और न मानना क्या है, वह कबतक पृथक् मानता रहता है? शरीरमें प्राण रहते हुए यह मान्यता नष्ट हो सकती है या नहीं? इसपर अपना विचार व्यक्त करें, तब उत्तर दिया जा सकता है।

आपने पूछा—'प्रेम किससे किया जाता है, अपनेसे छोटेसे या बड़ेसे?' इसका उत्तर तो यह है कि प्रेम अपनेसे छोटेके साथ भी किया जाता है और बड़ेके साथ भी।

आपने अपनी मान्यता व्यक्त करते हुए जो यह लिखा कि 'कोई भी प्रेमी बिना किसी गुणके या महानताके किसीसे भी प्रेम नहीं करता' सो यह आप मान सकते हैं। पर यह नहीं कहा जा सकता कि यही मानना ठीक है, दूसरी सब मान्यताएँ गलत हैं; क्योंकि प्रेमतत्त्व गहन है।

आपने लिखा कि 'भगवान् तो ऐसा कर सकते हैं, किंतु जीव नहीं कर सकता; जबतक जीवकोटि है तबतक ऐसा हो नहीं सकता' सो जीवकोटिसे आपकी क्या परिभाषा है? यह तो आप ही जानें। पर प्रेमीलोग तो सबसे प्रेम करते हैं; यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। ऐसा न होता तो संतलोग संसारी मनुष्योंके साथ क्यों प्रेम करते?

आपने लिखा कि 'गोपियोंने जो भगवान् श्रीकृष्णके साथ प्रेम किया, वह प्रेमकी पराकाष्ठा कही जाती है; किंतु मानी नहीं जा

सकती।' इसका उत्तर तो यही हो सकता है कि आप चाहे न मानें, जिन्होंने कहा है उन्होंने तो मानकर ही कहा है।

आपने पूछा कि 'उनका प्रेम भगवान् श्रीकृष्णके साथ था या उस परमतत्त्वके साथ, जिससे भिन्न कोई दूसरा तत्त्व ही नहीं है?' इसका उत्तर तो यही हो सकता है कि भगवान् श्रीकृष्णसे भिन्न कोई परम तत्त्व भी है, यह उनकी मान्यता ही नहीं थी।

आपने लिखा कि 'परमतत्त्वमें भेद नहीं है' सो परमतत्त्व क्या है, उसमें किस प्रकार भेद है, किस प्रकार भेद नहीं है, यह अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार आचार्यलोग कहते हैं। पर फिर सभी यह कहते हैं कि वह वाणी, मन और बुद्धिका विषय नहीं है।

आपने पूछा कि 'अभेदमें कर्ता नहीं, फिर प्रेमकी कोटि क्या?' इसका उत्तर बतलानेकी जिम्मेवारी तो आपपर ही आ जाती है; क्योंकि आप पहले स्वीकार कर चुके हैं कि 'अपनेसे छोटेके साथ प्रेम भगवान् तो कर सकते हैं' तो क्या भगवान् अपनेको परमतत्त्वसे भिन्न मानते हैं, जिसकी दृष्टिमें छोटे-बड़ेका भेद आपकी मान्यताके अनुसार सिद्ध होता है।

आपने लिखा कि 'यदि भेद है तो कितना ही उच्च प्रेम या प्रेमी क्यों न हो, प्रेमास्पदसे अपनेको हेय मानकर कुछ कामना अवश्य करेगा।' आपका यह लिखना प्रेमके तत्त्वको बिना समझे ही हो सकता है।

आपने लिखा कि 'जो यह मानते हैं कि प्रेमी अपने लिये कुछ नहीं करता, जो कुछ करता या चाहता है प्रेमास्पदके लिये ही करता है, मैं इसको गलत मानता हूँ।' सो आप चाहे जिस मान्यताको गलत मान सकते हैं, आपको कौन मना करता है। परंतु प्रेमियोंका कहना है कि जो अपने सुखके लिये किया जाता है, वह प्रेम ही नहीं है; वह तो प्रत्यक्ष ही काम है, जिसका

परिणाम दु:ख ही है। असली प्रेममें अपने सुखभोगकी गन्ध भी नहीं रहती। उसको जो प्रेमास्पदके सुखमें सुख होना कहा जाता है वह तो प्रेमका ही स्वरूप बतलाना है, वह सुखभोग या सुखभोगकी कामना नहीं है। प्रेम स्वयं विशुद्ध रसमय है, रस ही प्रेमका स्वरूप है और वह असीम तथा अनन्त है।

आपने लिखा कि 'प्रेमास्पद पूर्ण है' सो ठीक है। पर उस पूर्णमें भी प्रेमकी भूख सदैव रहती है; क्योंकि प्रेम उसका स्वभाव है और उसकी पूर्ति नहीं है, क्योंकि वह अनन्त है।

आपने लिखा कि 'प्रेमी' और प्रेमास्पद दोनों जबतक सम नहीं, तबतक प्रेममें पूर्णता नहीं' सो आप ही विचार करें कि यदि प्रेमास्पद स्वयं प्रेमी बन जाय और प्रेमी उसके लिये प्रेमास्पद हो जाय तो दोनों सम हो गये या नहीं?

आपका यह कहना कि 'प्रेमी प्रेमास्पद और प्रेमास्पद प्रेमी बन जाय, यह केवल कथन है' सो ऐसी बात नहीं है। प्रेम ऐसा ही विचित्र तत्त्व है। उसमें आपकी युक्ति काम नहीं देती; क्योंकि वहाँतक बुद्धिकी पहुँच नहीं है।

भक्तलोगोंका क्या कहना है और वह किस उद्देश्यसे है, यह तो भक्तलोग ही जानें; पर मैंने तो यह सुना है कि प्रेमका द्वैत द्वैत नहीं है और अद्वैत अद्वैत नहीं है; क्योंकि साधारण दृष्टिसे जैसा द्वैत और अद्वैत समझा जाता है, प्रेम-तत्त्व उस समझ और कल्पनासे अतीत है। उसे कोई भी तबतक नहीं समझ सकता, जबतक वह स्वयं प्रेमको प्राप्त नहीं कर लेता।

आपने लिखा कि 'भगवान्‌के भक्त भगवान्‌के हाथके यन्त्र बनकर उनके आदेशानुसार समस्त कर्म होना मानते हैं' तथा आगे पैरा पूरा होनेतक इसकी व्याख्या भी लिखी सो इसमें कोई मतभेद नहीं है। यह मान्यता भी परम श्रेयस्कर है।

श्रीप्रह्लादजी क्या चाहते थे, क्या नहीं चाहते थे, यह समझना कठिन है। उनके चरित्रको सुनकर सुननेवाला अपनी समझके अनुसार कल्पना कर लेता है। भक्तमें स्वार्थकी गन्धतक नहीं रहती, उसकी दृष्टिमें एकमात्र प्रेम-ही-प्रेम रहता है, वहाँ कल्पना कैसी? भक्तका चरित्र तो लोकशिक्षाके लिये एक लीला है। उसमें जो कुछ खेल खेला जाता है, वह भगवान्‌की दी हुई शक्तिसे, उन्हींकी प्रेरणासे और उन्हींकी प्रसन्नताके लिये होता है। अतः भक्तकी क्रियाको न तो स्वार्थ कहना चाहिये और न कल्पना ही।

साधनकी पराकाष्ठा क्या है—यह निश्चितरूपसे तो इसलिये नहीं कहा जा सकता कि सब साधकोंके लिये उसका स्वरूप एक-सा नहीं है। पर गीतामें भगवान्‌ने अपने प्रिय भक्तोंके लक्षण बारहवें अध्यायके १३ वेंसे १९ श्लोकतक बतलाये हैं; उनमें पराकाष्ठाकी बातें आ जाती हैं।

शरणागतकी पूर्णता अपनापन खोनेमें है या यन्त्रवत् कार्य करनेमें—यह तो शरणागत भक्त ही जानें। पर पहले यह समझनेकी जरूरत है कि यन्त्रका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व रहता है क्या? इसपर विचार करनेपर सम्भव है, आपके प्रश्नका उत्तर हो जाय।

श्रीमान् राष्ट्रपतिजीने हिंदूकोडपर हस्ताक्षर किस भावसे किये इसका निर्णय देनेका मैं अपना अधिकार नहीं मानता।

'सनातन हिंदू-धर्म कठोरतासे कुचला जा रहा है, इसे नष्ट करनेके लिये विभिन्न कानून बनाये जा रहे हैं' यह ठीक है। पर ऐसा क्यों हो रहा है—इसपर यदि गम्भीरतासे विचार किया जाय तो मानना पड़ेगा कि अपनेको हिंदू कहनेवाले भाई धर्म और ईश्वरकी ओटमें कम अन्याय नहीं कर रहे हैं। अपनेको साधु, महात्मा, प्रचारक, साधक, भक्त, महन्त, संत, उपदेशक तथा सदाचारी मानने और मनवानेवाले गृहत्यागी और गृहस्थ पुरुषोंकी क्या दशा है? क्या

इनमें ऐसे लोग नहीं हैं, जो धर्मकी ओटमें अधर्म कर रहे हैं? क्या लोग ईश्वरकी जगह स्वयं अपनी पूजा-प्रतिष्ठा नहीं करवा रहे हैं? क्या कोई व्यापारी धर्मादेके नामपर अर्थसंग्रह नहीं कर रहे हैं? कोई भी सरलहृदय व्यक्ति उपर्युक्त बातोंको अस्वीकार नहीं कर सकता। अतः यह तो नहीं कहा जा सकता कि धर्मका विरोध ईश्वर-इच्छाके बिना ही हो रहा है, पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि हमें इसका विरोध नहीं करना चाहिये, हमें इसका विरोध पूरी शक्ति लगाकर करना चाहिये। वह यदि कर्तव्य मानकर किया जाय तो भी अच्छा है और भगवान्‌का आदेश मानकर किया जाय तो भी अच्छा है। उसमें सफलता मिले या विफलता, परिणाममें हर्ष-शोक न होना और करते समय राग-द्वेषसे रहित होकर करना—यही निष्कामताकी कसौटी है।

[१५]

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार मालूम हुए। संसार-सागरके थपेड़ोंसे व्याकुल होकर एवं संसारसे निराश होकर भगवान्‌की शरणमें जाना बड़े ही सौभाग्यकी बात है। साधकको समझना चाहिये कि भगवान्‌की मुझपर परम कृपा है जो मेरे मनमें उनके आश्रित होनेका भाव प्रकट हुआ।

संसारमें ऐसा व्यक्ति दृष्टिगोचर न हो जो उचित परामर्श दे सके, यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि संसारमें रचे-पचे व्यक्ति प्रायः स्वार्थपरायण हुआ करते हैं, पर साधकको चाहिये कि उनके दोषोंपर दृष्टिपात न करे, अपने विवेकका उपयोग अपने दोषोंको देखने और मिटानेमें करे। मनसे किसीका बुरा न चाहे, अपने साथियोंके हित और प्रसन्नताका तथा उनके प्रति अपने कर्तव्यपालनका विशेष ध्यान रखे।

आपका हृदय भगवान् श्रीकृष्णके प्रेमसे रंजित है, यह भगवान्की विशेष कृपा है। उनके दर्शनोंकी तीव्र लालसा होना, यही तो मनुष्यका सर्वोत्तम लक्ष्य है। इस लालसाको पूर्ण करना सर्वशक्तिमान् परम प्रेमी प्रभुके हाथमें है। अतः उनके आश्रित भक्तको कभी निराश नहीं होना चाहिये, निराशा तो साधनमें विघ्न है, भगवान्पर दृढ़ भरोसा रखना चाहिये।

भगवान्का दिव्य वृन्दावनधाम और सेवाकुंज सर्वत्र है, उनके प्रेमी भक्तका उसीमें नित्य निवास रहता है, उसकी दृष्टिमें इस पांचभौतिक जगत्का अस्तित्व ही नहीं रहता। अतः आपको इसके लिये निराश नहीं होना चाहिये।

आप पांचभौतिक शरीरको अपना स्वरूप मान रही हैं, यह आपकी भूल है। परंतु वास्तवमें यह आपका स्वरूप नहीं है, यह तो हाड़-मांस और मल-मूत्रका थैला है। आपका स्वरूप तो उस परम प्रेमके समुद्र भगवान् श्रीकृष्णका ही चिन्मय अंश है। अतः उचित है कि आप जिस शरीरको और उसके सम्बन्धी माता, पिता, भाई, नाना, मामा आदिको अपना मान रही हैं, उन सबसे ममता तोड़कर एकमात्र प्रभुको ही अपना सब कुछ समझें। वे प्रभु जब आपको अपने दिव्य वृन्दावनधामके सेवाकुंजमें निवास कराना चाहेंगे, तब कोई भी रोक नहीं सकेगा। वे बड़े नटखट हैं। वे देखते हैं साधकके भावको। जब साधक सब प्रकारके सांसारिक भोगोंकी इच्छाका त्याग करके एकमात्र उन्हींके प्रेममें निमग्न हो जाता है, उनसे मिलनेके लिये सर्वभावसे व्याकुल हो उठता है, तब वे तत्काल ही उसे अपने वृन्दावनधाममें प्रवेश कर लेते हैं। अतः निराशाके लिये कोई स्थान नहीं है।

आपके................. जो आपकी भगवद्भक्तिका विरोध करते हैं, वृन्दावनधामको नरक और भगवान्के भक्तोंको ढोंगी

बताते हैं एवं सेवाकुंजमें दर्शन होने आदि बातोंको झूठा प्रचार बताते हैं, इसे सुनकर आपको न तो आश्चर्य करना चाहिये, न दुःख करना चाहिये और न उन कहनेवालोंको बुरा ही समझना चाहिये। जो मनुष्य जिसके महत्त्वसे अनभिज्ञ होता है, वह उसकी निन्दा किया ही करता है, यह कोई अस्वाभाविक नहीं है। वे तो भगवान्‌की विशेष कृपाके पात्र हैं; क्योंकि हमारे प्रभुका नाम पतितपावन और दीनबन्धु है। जब वे हमारे-जैसे अधमोंको अपनानेके लिये अपना प्रेम प्रदान करते हैं, तब दूसरोंको क्यों नहीं करेंगे। ऐसा भाव करके सबके साथ प्रेमका व्यवहार करते रहना चाहिये और उनके कहनेका किंचिन्मात्र भी दुःख नहीं मानना चाहिये।

आपने लिखा कि एक क्षणके लिये भी सत्संग नहीं मिलता, सो भगवान्‌की स्मृतिसे बढ़कर दूसरा सत्संग कौन-सा है। भगवान्‌में प्रेम होना ही सत्संगका परम सार है। अतः श्रेष्ठ पुरुषोंका संग न मिले तो भी उसके लिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये। भगवान् आवश्यक समझेंगे तो वैसे सत्संगकी व्यवस्था स्वयं करेंगे। साधकको तो सर्वथा उनपर निर्भर होकर निश्चिन्त हो जाना चाहिये।

मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ, किसीपर कृपा करनेकी मुझमें सामर्थ्य ही कहाँ है, कृपा तो उस सर्वशक्तिमान् कृपानिधान प्रभुकी सबपर है ही, उसी कृपाका हरेक घटनामें दर्शन करते रहना चाहिये।

आपने घरपर ही भगवान्‌का दर्शन होनेका उपाय पूछा, सो उनके दर्शनकी उत्कट इच्छा ही सर्वोत्तम और अमोघ उपाय है। अतः उसी उत्कट इच्छाको इतना तीव्रातितीव्र बढ़ाना चाहिये कि फिर बिना दर्शनके क्षणभर भी चैन न पड़े।

जो यह कहते हैं कि कलियुगमें भगवान्‌का दर्शन नहीं होता, वे भोले भाई हैं। उनको भगवान्‌की महिमाका अनुभव नहीं हुआ है। अतः उनकी बातपर ध्यान नहीं देना चाहिये। सच तो यह है कि भगवान् जितनी सुगमतासे कलियुगमें दर्शन देते हैं उतनी सुगमतासे किसी भी युगमें नहीं देते; क्योंकि वे पतितपावन हैं।

आपके लिये मूर्तिकी प्राणप्रतिष्ठा कराना कोई विशेष आवश्यक नहीं है। मीराने कब प्राणप्रतिष्ठा करायी थी? पर उनकी तो अपने प्रभुसे बराबर बातचीत चलती थी। अब आप ही विचार करें कि शास्त्रीय प्राणप्रतिष्ठा आवश्यक है या भावमयी प्राणप्रतिष्ठा आवश्यक है। भावमयी प्राणप्रतिष्ठाको कोई नहीं रोक सकता।

आपने जपकी संख्याके विषयमें पूछा, सो जिन प्रेमियोंका जीवन ही भजन-स्मरण है, उनके मनमें यह सवाल ही क्यों उठना चाहिये कि कितनी संख्या पूरी होनेपर मुक्ति होती है; क्योंकि संसारसे तो उनकी एक प्रकारकी मुक्ति उसी समय हो जाती है जब वे सबसे नाता तोड़कर एकमात्र प्रभुको ही अपना सर्वस्व मान लेते हैं और भगवान्‌के प्रेम-बन्धनसे उनको मुक्त होना नहीं है। अतः प्रेमी भक्तके मनमें यह सवाल ही नहीं उठना चाहिये।

'**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' यह मन्त्र बहुत अच्छा है, ध्रुवजीने इसी मन्त्रका जप किया था।

जपकी संख्याका हिसाब तो उस साधकके लिये आवश्यक है, जिसको निश्चित संख्यातक जप करना है और बाकी बचे हुए समयमें दूसरा काम करना है। जिस साधकको निरन्तर जप ही करना हो और जिसका भजन-स्मरण ही जीवन बन गया हो

उसके लिये संख्याका हिसाब रखनेकी आवश्यकता नहीं है। जप चाहे जैसे भी किया जाय वह निष्फल नहीं हो सकता।

जप करते समय माला उसी समय हाथसे छूटती है, जब मन दूसरी ओर चला जाता है या तन्द्रा (आलस्य) आ जाती है। माला छूट जाय तो जप फिर आरम्भसे ही करना चाहिये।

भगवद्गीताके माहात्म्यमें जो एक श्लोकसे मुक्ति बतायी है, उसका सम्बन्ध श्रद्धासे है। यदि मनुष्य एक श्लोकपर श्रद्धा करके उसके अनुसार अपना जीवन बना ले तो केवल मुक्ति ही नहीं, भगवान् स्वयं भी मिल जाते हैं। भगवान्ने स्वयं कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

अतः यही समझना चाहिये कि जिनको गीताकी महिमापर श्रद्धा नहीं है, जो उसकी महिमाको सुनकर भी मानते नहीं, उनको वह लाभ नहीं मिलता जो मिलना चाहिये।

जप करते समय उदासी या आलस्यका आना श्रद्धा-प्रेमकी कमीका द्योतक है।

सिद्ध सखी-स्वरूपकी प्राप्ति प्रेमकी धातुसे बने हुए प्रेममय दिव्य शरीरको प्राप्त होनेको कहते हैं। उसीसे भगवान्के लीलाधाम दिव्य वृन्दावनमें प्रवेश होता है। अतः कल्याणमें जो बात लिखी है, वह ठीक ही होगी। सिद्ध-स्वरूपको प्राप्त करनेका साधन एकमात्र भगवान्की कृपाका आश्रय और उनका

अनन्य प्रेम ही है। उसे प्राप्त करनेका अधिकार हरेक मनुष्यका है फिर आपका क्यों नहीं है?

[१६]

आपका कार्ड मिला। समाचार मालूम हुए। कार्डका उत्तर न दिया जाय और लिफाफेका दिया जाय, ऐसी बात नहीं है; बल्कि कार्डका उत्तर देनेमें तो अपेक्षाकृत सुविधा रहती है।

आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) प्रकृतिका दूसरा नाम अव्यक्त और प्रधान भी है। इसके कार्यरूप तीन गुण बताये गये हैं—सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। इन तीनोंके मिश्रणसे अनेक भेद हो जाते हैं। सत्त्वगुणमें प्रकाश, ज्ञान और सुखकी प्रधानता है। रजोगुणमें आसक्ति और हलचलकी प्रधानता है। तमोगुणमें अज्ञान, प्रमाद और मोहकी प्रधानता रहती है।

(२) परमात्माको पुरुषोत्तम, परमेश्वर, परब्रह्म, सर्वात्मा आदि अनेक नामोंसे पुकारा जाता है। वे मायाप्रेरक, सबके रचयिता, सर्वशक्तिमान्, समस्त दिव्य कल्याणमय गुणोंके समुद्र होते हुए ही सबसे अलग, अलिप्त और अकर्ता तथा अभोक्ता हैं एवं गुणोंसे अतीत भी हैं। यही उनकी विशेषता है।

(३) परमात्मा ज्ञानस्वरूप, प्रकृतिके प्रेरक और सर्वज्ञ हैं। प्रकृति जड और परमात्माके नचानेसे नाचनेवाली है। यही भिन्नता है। पर है उस परमात्माकी ही शक्ति, इसलिये अभिन्न भी है; क्योंकि शक्तिमान्से भिन्न शक्तिकी कोई सत्ता नहीं होती।

(४) जीवात्मा परमात्माका ही अंश है, इसको परमात्माकी परा प्रकृतिके नामसे (गीता ७। ५) और स्वभावके नामसे (गीता ८। ३) भी कहा है। यह जबतक जड प्रकृतिमें स्थित रहता है

(गीता १३। २१), तबतक सुख-दुःख भोगता रहता है और विभिन्न योनियोंमें जन्मता रहता है। जब प्रकृतिका संग छोड़कर मुक्त हो जाता है, तब अपने परम कारण—परम आश्रय परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है।

(५) सभी प्राणी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न हैं (गीता १३। २६)। अतः यह कहना कि हम सब प्रकृतिसे उत्पन्न हैं तभी ठीक माना जा सकता है, जब हम परमात्माकी परा और अपरा दोनों प्रकृतियोंको मिलाकर प्रकृति शब्दका प्रयोग करते हैं, अन्यथा अकेली जड प्रकृतिसे जीवोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

हम कोई कार्य प्रकृतिके प्रतिकूल करते हैं तो प्रकृति हमको समुचित दण्ड देती है, पर देती है उस सर्वप्रेरक परमेश्वरके विधानके अनुसार ही। इस बातको कभी नहीं भूलना चाहिये।

बीज और वृक्ष आदिके विकासके विषयमें भी आपने जो कुछ लिखा है उसका भी यही उत्तर है कि जितना भी विकास होता है सब जड और चेतनके संयोगसे और उन दोनोंके प्रेरक भगवान्‌की प्रेरणासे ही होता है। अतः आपका यह कहना कि प्रकृति स्वयं ही कर्मोंकी फलदात्री है, अन्य कोई उसका प्रभु नहीं है—सर्वथा युक्तिविरुद्ध और शास्त्रविरुद्ध है; क्योंकि जड प्रकृतिको क्या पता कि किसका क्या कर्म है और उसका कौन-सा फल उसे कब और किस प्रकार देना चाहिये। क्रिया तो होते-होते ही नष्ट हो जाती है, उसके संस्कार किसमें और किस प्रकार किसके आश्रित संग्रहीत होते हैं; इसपर विचार करना चाहिये।

ज्ञान, आनन्द और विचार बिना चेतनके प्रकृतिमें कैसे रह सकते हैं? वह यह विभाजन कैसे करेगी कि किसको ज्ञान देना चाहिये, किसको किस कर्मका फल किस प्रकारके सुख-दुःखके रूपमें देना चाहिये—इत्यादि।

अतः यह मानना ही पड़ेगा कि उस प्रकृतिको नियमितरूपसे चलानेवाला और प्रेरणा देनेवाला, जीवोंके साथ उसका यथायोग्य सम्बन्ध जोड़नेवाला—उसका अधिष्ठाता, निर्माता और प्रेरक कोई अवश्य है और वही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है। उसीका प्रकृतिपर अधिकार है और प्रकृतिका उसपर कोई अधिकार नहीं है।

प्रकृतिका अधिकार तो एक सिद्ध योगीपर भी नहीं रहता, फिर परमेश्वरकी तो बात ही क्या है! प्रकृतिके कार्यको परमेश्वर तो पलट ही सकते हैं, इसके अतिरिक्त योगी भी पलट सकता है। फिर आपने यह कैसे निश्चय किया कि कोई भी पलट नहीं सकता। आप ही बताइये कि मीरापर जहरका असर क्यों नहीं हुआ? प्रह्लादको आग क्यों नहीं जला सकी?—इत्यादि। × × ×

✦✦

[१७]

सादर हरिस्मरण। सम्पादक 'कल्याण' के पतेसे दिया हुआ आपका पत्र यथासमय मिल गया था। पत्र लम्बा होने और अवकाश कम मिलनेके कारण पत्रका उत्तर देनेमें विलम्ब हो गया, इसके लिये किसी प्रकारका विचार नहीं करना चाहिये। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

(१) आपके पारिवारिक एवं आजीविकासम्बन्धी हालचाल मालूम किये। आपके बहुत चेष्टा करनेपर भी घरमें मेल स्थापित न हो सका तो इसे भगवान्‌का विधान समझकर संतोष करना चाहिये। आपके माता-पिता आपसे अलग रहते हैं और अलग रहनेमें ही संतुष्ट हैं तो कोई बात नहीं, अलग-अलग रहें।

(२) आप श्रीकृष्णके उपासक हैं और '**श्रीकृष्णः शरणं**

मम' इस मन्त्रका रोज १८ माला जप कर लेते हैं—यह बहुत उत्तम है। किंतु माला फेरते समय मन जो इधर-उधर फिरता रहता है और केवल जिह्वा चलती रहती है, इसमें सुधार करनेकी आवश्यकता है। मनपूर्वक किया हुआ साधन अधिक लाभकारी है। इसलिये मनको गीता अध्याय ६ श्लोक ३५-३६ के अनुसार अभ्यास-वैराग्यके द्वारा वशमें करना चाहिये। जिन-जिन सांसारिक विषयोंकी ओर वह जाता है, उनसे खींचकर बारम्बार भगवान्में श्रद्धा-प्रेम होनेके लिये उसे भगवान्के नाम, रूप, लीला, धामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यके चिन्तनमें लगाना चाहिये। श्रद्धा-प्रेम होनेपर मन इधर-उधर नहीं जा सकता।

उपर्युक्त मन्त्रका मानसिक जप तो हर समय किया जा सकता है, पर मलमूत्र-त्यागके समय मुँहसे उच्चारण नहीं करना चाहिये।

आप 'गीता-तत्त्वविवेचनी' पढ़ते हैं और मेरी मान्यतापर आपकी श्रद्धा है—यह आपके भावकी बात है। गीताका मननपूर्वक अध्ययन करना साधनमें बहुत ही सहायक है। आप सत्पुरुषोंके, भक्तोंके जीवनचरित्र पढ़ते हैं और पढ़ते समय आपके नेत्रोंसे बहुत अश्रुपात होने लगते हैं, यह बहुत अच्छी बात है। भक्त-चरित्र पढ़कर हृदयका द्रवीभूत होना—यह प्रेमका ही लक्षण है। इससे अन्तःकरणकी शुद्धि होकर वह भगवान्की ओर शीघ्र लग सकता है।

यह सब होनेपर भी 'दैनिक जीवनमें काम-क्रोध बहुत उत्पन्न होते हैं'—लिखा सो इनके नाशके लिये भगवान्से श्रद्धा-भक्तिपूर्वक करुणाभावसे स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये।

आपको वेतन कम ही मिलता है। यदि कहीं अधिक वेतनकी अच्छी जगह मिले तो बादमें इस कामको छोड़ देना चाहिये। आपने लिखा कि ऐसी परिस्थितिमें बहुत दुःख होता है

और भगवान्‌का विस्मरण होकर मन चकित होता है सो इस प्रकारकी कष्टमय परिस्थिति आनेपर भी मनमें धैर्य रखना चाहिये। भगवान्‌की स्मृतिमें कमी नहीं आने देनी चाहिये। जो भी परिस्थिति प्राप्त हो उसे भगवान्‌का विधान मानकर संतोष करना चाहिये। यदि लड़के काम करनेयोग्य हों तो उनको किसी कार्यमें लगाना चाहिये एवं ऐसी कष्टकी स्थितिमें पत्नीको भी सिलाई आदिका काम कराकर कुछ धनोपार्जनमें लगाना चाहिये; क्योंकि आजकलके समयमें एक आदमीके वेतनसे आठ प्राणियोंका भरण-पोषण होनेमें कठिनाई ही रहती है।

(३) आप अपनेको भक्तिका साधन करने लायक समझते हैं सो बहुत ठीक है। आपको भक्तिका साधन ही करना चाहिये। आपने कर्मयोग और भक्तियोगका तथा भक्ति और सांख्ययोगका भेद जानना चाहा सो ठीक है। सम्पूर्ण कर्मोंमें और पदार्थोंमें फलकी इच्छा और आसक्तिका त्याग करके अपने लिये शास्त्रमें विहित कर्मोंको करना और उनकी सिद्धि या असिद्धिमें समभाव रहना—यह कर्मयोग है; इसमें कर्मकी प्रधानता है (गीता अध्याय २ श्लोक ४७-४८ देखें)। इसके साथ भक्ति भी हो तो उसे भक्तिप्रधान कर्मयोग कहते हैं। इसके दो भेद हैं—(१) भगवदर्थ कर्म और (२) भगवदर्पण कर्म। जो शास्त्र-विहित कर्म भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, भगवान्‌के आज्ञानुसार किये जाते हैं उनको 'भगवदर्थ' कहते हैं (गीता ११। ५५; १२। १० देखें) और जो कर्म करते समय या बादमें भगवान्‌के अर्पण कर दिये जाते हैं उनको 'भगवदर्पण' कहा जाता है (गीता ९। २७; १८। ५६-५७ देखें)। इस प्रकार भक्तियोगमें भक्तिकी प्रधानता रहती है और कर्मयोगमें कर्मकी प्रधानता। गीता अध्याय २ श्लोक ४७-४८ में केवल कर्मयोग है और अध्याय १० श्लोक ८, ९, १० में केवल

भक्ति है तथा अध्याय ११ श्लोक ५४-५५ में भक्तिप्रधान कर्मयोग है। भक्ति और कर्मयोग—ये दोनों एक साथ किये जा सकते हैं। भक्तिमती गोपियोंमें भक्तिकी प्रधानता थी, पर साथमें वे अपने घरका काम-काज भी करती थीं। वे भगवान्‌के पावन नाम और गुणोंका स्मरण, कीर्तन और गान करती हुई ही सब काम किया करती थीं (देखिये श्रीमद्भागवत १०।४४।१५)। इस प्रकार उनके जीवनमें भक्तिप्रधान कर्मयोग था।

आपने जिन उद्धव, चैतन्यमहाप्रभु, नरसी मेहता आदि भक्तोंका उल्लेख किया है, ये प्रायः सभी भक्तिमार्गके भक्त हुए हैं। किसी-किसीके भक्तिके साथ कर्म भी चलते थे; परंतु सांख्यमार्गके साथ भक्तिमार्ग नहीं चल सकता; क्योंकि सांख्यमार्गमें अद्वैतवाद है और भक्तिमें द्वैतवाद। ये दोनों एक-दूसरेसे भिन्न हैं। सांख्ययोगमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ भी नहीं—इस प्रकारकी मान्यता और सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका अभाव रहता है और भक्तियोगमें स्वामी-सेवक आदि भावकी मान्यता तथा सब कर्मोंको भगवदर्थ या भगवदर्पण-बुद्धिसे करनेका भाव रहता है। विस्तारसे जानना चाहें तो गीता-तत्त्वविवेचनीकी भूमिकामें 'सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठाका स्वरूप' प्रसंग तथा गीता-तत्त्वविवेचनीमें अध्याय ३ श्लोक २ और अध्याय ५ श्लोक २ की व्याख्या देखनी चाहिये। साथ ही गीताप्रेससे प्रकाशित 'कल्याण प्राप्तिके उपाय में' 'गीतोक्त संन्यास या सांख्ययोग' तथा 'गीतोक्त निष्काम-कर्मयोगका स्वरूप' शीर्षक लेख पढ़ने चाहिये।

आपके लिये गीता, तुलसीकृतरामायण, भागवत, विष्णुपुराण, पद्मपुराण, नारदभक्तिसूत्र, शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र तथा अन्य गीताप्रेसकी पुस्तकें—इन ग्रन्थोंको मननपूर्वक पढ़ना अधिक उपयुक्त हो

सकता है। भक्तिके साधकको वेदान्तके ग्रन्थोंका अध्ययन करना विशेष आवश्यक नहीं है।

आपने पूछा कि किस प्रकार किस दृष्टिसे हरेक कर्म करना चाहिये सो ठीक है। आपके लिये भक्तिका साधन करना और भगवान्‌की सेवाके रूपमें अपने कर्तव्य-कर्मोंका पालन करना सर्वोत्तम है। अभिप्राय यह कि प्रातःकाल और सायंकाल तथा जब भी अवकाश मिले, एकान्तमें श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे भगवान्‌के नामका जप, उनके स्वरूपका ध्यान और उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका मनन करना तथा गीता-रामायण आदि शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये एवं अपने न्याययुक्त कर्तव्य-कर्मोंको करते समय तथा हर समय चलते-फिरते, खाते-पीते हुए भी भगवान्‌के नाम-रूपको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नित्य-निरन्तर स्मरण रखते हुए ही सब काम करना और सम्पूर्ण प्राणियोंमें भगवान्‌का स्वरूप समझकर उनकी निःस्वार्थभावसे सेवा करनी चाहिये। हर समय यही दृष्टि रखनी चाहिये कि दूसरोंका हित किस प्रकार हो।

'**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' मन्त्रका जप पवित्र अवस्थामें तो उच्चारणपूर्वक किया जा सकता है, इसमें कोई आपत्ति नहीं। किंतु अपवित्र अवस्थामें इस मन्त्रका उच्चारण करनेका शास्त्रमें निषेध है। पर मानसिक जप करनेमें शास्त्राज्ञाका भंग नहीं होता, अतः मानसिक जप सब समय किया जा सकता है।

(४) मालिक जो यह चाहते हैं कि हमारा नौकर हमारा पैसा न चुरावे और ईमानदार रहे, यह मालिककी कृपा है और आपके लिये लाभकी वस्तु है। उनकी इस इच्छाका आदर करना चाहिये। किंतु वे जो यह चाहते हैं कि यह बाजारसे वजन और

नापमें १०० का १०१ खरीदे और ९९ बेचे, यह उचित नहीं है। आपको ऐसा नहीं करना चाहिये और इसके लिये मालिकसे विनयपूर्वक हाथ जोड़कर प्रार्थना कर देनी चाहिये कि ऐसा करनेके लिये मैं लाचार हूँ। एवं इसके बदलेमें जो भी कष्ट सहन करना पड़े सह लेना चाहिये; किंतु बेईमानी कभी नहीं करनी चाहिये।

(५) कोई भी मनुष्य किसीसे द्वेष रखकर उसे कष्ट पहुँचाता है तो वह उसे कष्ट पहुँचानेमें निमित्त बनकर पापका ही भागी होता है। उस व्यक्तिको जो कष्ट या नुकसान होता है—वह उसके पूर्वकृत पापकर्मका फल है, दूसरा व्यक्ति तो निमित्त बनकर केवल अपने सिरपर पापकी गठरी रख लेता है। बिना प्रारब्धके किसीको नुकसान या कष्ट हो नहीं सकता। इस रहस्यको समझकर जो कुछ भी कष्ट प्राप्त हो, उसमें दुःख नहीं मानना चाहिये। बल्कि उसे अपने परम दयालु प्रभुका विधान मानकर प्रसन्न होना चाहिये। जो व्यक्ति अपने साथ द्वेष रखे, बदलेमें उससे प्रेम ही करे, वह अपना बुरा करे तो भी उसका उपकार ही करे। साधक चाहे क्षत्रिय हो या वैश्य—सबके लिये उपर्युक्त श्रेष्ठ व्यवहार करना ही उचित है। कहीं न्याययुक्त प्रतीकार करना आवश्यक हो तो उसके हितकी दृष्टिसे अपने अधिकारके अनुसार प्रतीकार करनेमें कोई आपत्ति नहीं।

(६) आपका मित्र-परिवार दस-बारह वर्षसे प्रतिदिन आध्यात्मिक पुस्तकोंका अध्ययन कर रहा है, जप भी करता है, यह बड़ी उत्तम बात है; किंतु शास्त्रने निषेध किया है, इसलिये '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' या '**ॐ श्रीकृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय नमः**' मन्त्रका अपवित्र अवस्थामें उच्चारण

करके जप करना उचित नहीं है। उपर्युक्त मन्त्रोंका मानसिक जप हर समय कर सकते हैं।

(७) अनिच्छा और परेच्छासे जो कुछ भी सुख-दुःख और घटना प्राप्त हो, उसे भगवान्‌का विधान समझ लेनेपर फिर काम-क्रोध नहीं हो सकते। हर एक परिस्थितिकी प्राप्तिमें भगवान्‌की दयाका दर्शन करना चाहिये और ऐसा समझना चाहिये कि जो परिस्थिति प्राप्त हुई है, यह भगवान्‌की ही भेजी हुई है और वे परम कृपालु भक्तवत्सल भगवान् हमारे हितके लिये ही करते हैं। उनका प्रत्येक विधान हमारे लिये मंगलमय ही होता है। इस प्रकार समझनेपर फिर न तो क्रोध आ सकता है और न कामना ही रह सकती है। जो सदा-सर्वदा सबको अपने परम प्रेमी भगवान्‌का ही स्वरूप समझता और सर्वत्र उनका दर्शन करता रहता है, उसके तो ये काम-क्रोध आ ही कैसे सकते हैं! रामायणमें श्रीशिवजीने कहा है—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(उत्तरकाण्ड दोहा ११२ ख)

आपने लिखा कि 'प्रतिदिन दो प्रकारकी विचारधाराका संघर्ष होता है, तब दानवताकी ही जय होती है' सो जब ऐसा हो तभी उसे अपने साधनमें अत्यन्त बाधक और बुरा काम समझकर उसके लिये मनमें अत्यन्त पश्चात्ताप करके उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये।

(८) **'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'**, **'ॐ नमो वासुदेवाय'**, **'वासुदेवाय नमः'** ये तीनों ही जप-मन्त्र हो सकते हैं। अधिकतर शास्त्रोंमें पहलेवाले **'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'** मन्त्रका ही उल्लेख मिलता है। जिस मन्त्रमें ॐ हो उसे अपवित्र

अवस्थामें उच्चारण करनेमें शास्त्रका निषेध है, अतः '**वासुदेवाय नमः**' का तो किसी भी समय उच्चारण किया जाय तो कोई आपत्ति नहीं, पर उपर्युक्त अन्य दो मन्त्रोंको हर समय जपें तो मानसिक ही जपना चाहिये। इन मन्त्रोंका जप करते हुए श्रीविष्णुभगवान्‌का ध्यान करना बहुत उत्तम है, अतः अवश्य करना चाहिये। × × ×

[१८]

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार मालूम हुए। जपके विषयमें आपने जो-जो बातें लिखीं सब पढ़ ली हैं; उनका उत्तर इस प्रकार है—

१—सर्दीकी ऋतुमें यदि सायंकाल स्नान करना असह्य हो तो हाथ-पैर और मुँह धोकर भी गायत्रीका जप और संध्या कर सकते हैं।

२—जप करते समय कण्ठ और जिह्वा शुष्क होने लगे तो आचमन कर लेना चाहिये।

३—आप लिखते हैं कि मैं जप मानसिक करता हूँ और यह भी लिखते हैं कि जिह्वा और कण्ठ थक जाते हैं। ये दोनों बातें परस्पर मेल नहीं खातीं; क्योंकि मानसिक जपमें कण्ठ और जिह्वासे कोई काम ही नहीं लिया जाता, तब वे दोनों थकेंगे क्यों? आगे चलकर आप यह भी लिखते हैं कि जिह्वा अपने-आप हिलने लगती है, इससे भी यही समझमें आता है कि आपका जप मानसिक नहीं होता; आप कण्ठ और जिह्वासे होनेवाले जपको ही मानसिक मानते हैं।

४—आपने लिखा कि '**ॐ नमो नारायणाय**' इस मन्त्रका जप करूँ तो कष्ट कम होता है, पर विचार तो यह करना है

कि साधनमें कष्ट होना ही क्यों चाहिये। यह तो तभी होता है जब साधक अपने साधनको ठीक समझ नहीं पाता है और सुनी-सुनायी बातोंपर मनमाने तरीकेसे साधन करता रहता है। वास्तवमें जो साधन अपनी योग्यता, विश्वास और रुचिके अनुरूप हो, वही साधन है। वह साधकको कभी भाररूप मालूम नहीं होगा। उसमें थकावट कभी नहीं आयेगी और उत्तरोत्तर रुचि बढ़ेगी। साधन अपने-आप होगा। उसका न होना असह्य हो जायगा। जगनेसे लेकर शयन करनेतक एवं साधनके आरम्भसे मृत्युपर्यन्त हर समय साधन-ही-साधन होगा। उसकी कोई भी क्रिया ऐसी नहीं होगी, जो साधनसे रहित हो।

आप जप करना अपना स्वभाव बना लें, उसपर जोर डालनेकी कोई आवश्यकता नहीं; प्रेमपूर्वक करते रहें। संख्या शीघ्र पूर्ण करनेका या अधिक करनेका आग्रह छोड़ दें। शान्तिपूर्वक मन्त्रके अर्थको समझते हुए और उसके भावसे भावित होकर जप करें, ऐसा करनेपर थकावटका सवाल नहीं आ सकता। जबतक जप या अन्य कोई भी साधन बोझ मालूम होता है, तभीतक उसमें थकावटकी प्रतीति होती है।

५—आपने लिखा कि पहले मेरा मन थोड़ा मन्त्रके अर्थ और भगवान्के चिन्तनमें लगने लगा था, परंतु अब सारा जोर उच्चारणकी ओर ही लग जाता है। अतः आपको विचार करना चाहिये कि ऐसा क्यों होता है। विचार करनेपर मालूम हो सकता है कि इसका कारण जल्दीबाजी अर्थात् थोड़े समयमें अधिक संख्या पूर्ण करनेका आग्रह है; जो कि भगवान्के चिन्तनका महत्त्व न जाननेके कारण होता है। इसलिये भाव और ध्यानसहित ही जप करना चाहिये, चाहे वह संख्यामें कम ही हो।

६—आपका आहार सदासे ही सादा है, यह अच्छी बात है।

चाय भी कोई लाभप्रद नहीं है। इसके स्थानपर गायका दूध पीना अच्छा है।

७—मन्त्रका उच्चारण आप अपनी जानकारीके अनुसार शुद्ध करनेकी चेष्टा रखते ही हैं; यह बहुत ठीक है। जप करते समय आप पवित्र होकर बैठते हैं, यह भी ठीक है। साथ ही मनको भी पवित्र रखनेका खयाल रखना चाहिये। मनमें बुरे और व्यर्थ संकल्पोंका न आना ही मनकी पवित्रता है।

८—जप और भगवत्-चिन्तन करते समय साधकको चाहिये कि सब प्रकारकी कामनासे रहित होकर बैठे। किसी भी व्यक्ति और वस्तुमें आसक्त न हो। ऐसा करनेसे शान्ति और सामर्थ्य बढ़ सकती है। फिर थकावट होना सम्भव नहीं है।

९—यदि स्त्रियाँ मासिकधर्म होनेपर भी छूआछूतका विचार नहीं रखतीं, अपवित्रता फैलाती हैं तो उनपर किसी प्रकारका दबाव न डालकर अपना भोजन शुद्धतापूर्वक अलग अपने हाथसे बना लेना चाहिये। इसका कारण कोई पूछे तो बड़ी शान्तिके साथ कह देना चाहिये कि मेरी रुचि ही ऐसी है, क्या करूँ? इसके अतिरिक्त न तो उनके व्यवहारसे दुःखी हों, न किसीको बुरा-भला कहें और न किसीपर क्रोध ही करें। ऐसा करनेमें उनका भी हित है और आपका तो हित है ही। ऐसा व्यवहार करनेपर स्त्रियोंको भी अशुद्धि फैलानेसे सावधानी हो सकती है।

१०—स्त्रियोंमें लज्जाका भाव जाता रहा है, इसके लिये आपको दुःख नहीं करना चाहिये। संसारमें इस प्रकारके परिवर्तन समय-समयपर हुआ करते हैं। साधकको तो अपने कर्तव्यमें सावधान रहना चाहिये। बिना पूछे दूसरेका कर्तव्य बताना उसका काम नहीं है। इसी प्रकार दूसरेकी त्रुटियोंको देखना भी साधकका काम नहीं है। उसे तो चाहिये कि अपने कर्तव्यका

पालन करते हुए निःस्वार्थभावपूर्वक दूसरोंके मनकी धर्मानुकूल इच्छाको पूरी करता रहे।

११—कन्याका विवाह समय आनेपर संयोगसे ही होता है, यह बात ही अधिक ठीक है; तो भी कन्याके माता-पिता आदि अभिभावकोंको अपनी ओरसे चेष्टा करते रहना चाहिये। अपने कर्तव्यपालनमें उनको शिथिलता नहीं करनी चाहिये। भाग्यका विश्वास चिन्ता मिटानेके लिये है, किसीको कर्तव्यच्युत या कर्महीन आलसी बनानेके लिये नहीं।

१२—श्रद्धाके योग्य ब्राह्मण उपलब्ध न हों तो जो मिलें उनमेंसे अच्छा देखकर सदाचारी विद्वान् ब्राह्मणको श्रद्धापूर्वक भोजन करा देना चाहिये। वह यदि प्याज वगैरह खाता हो तो उसका उपाय करना आपके हाथकी बात नहीं है। आप अपने घरमें उसे वे वस्तुएँ न खिलावें, इतना ही कर सकते हैं। आप तर्पण प्रतिदिन करते हैं, यह बहुत अच्छा है।

[१९]

सादर हरिस्मरण।

आपका कार्ड मिला। समाचार मालूम हुए। आपके प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—

श्वासजप भी नामजपकी एक उत्तम विधि है; नामजपसे कोई अलग बात नहीं है। नामजप जिह्वासे उच्चारण करके होठ हिलाते हुए किया जा सकता है तथा होठ न हिलाकर केवल जिह्वाके द्वारा भी किया जा सकता है, जो दूसरेको सुनायी नहीं देता। इसके अतिरिक्त श्वासके द्वारा, नाड़ीके द्वारा और अनहदनादके द्वारा तथा मनके द्वारा भी जप किया जा सकता है।

श्वासके द्वारा जप करनेकी विधि भी कई प्रकारकी है। जैसे—

१-श्वास भीतर जाते समय एक नाम और आते समय एक नाम भावनासे श्वासके साथ जोड़ देना।

२-श्वास जाते-आते समय जो उसका कण्ठोंसे स्पर्श होता है और शब्द होता है, उसमें नामकी भावना करना। इसमें कोई 'हरे राम' के पूरे मन्त्रका, कोई आधे मन्त्रका जप कर लेते हैं। कोई-कोई इससे भी अधिक कर लेते हैं। जैसा जिसका अभ्यास। सबके लिये एक विधि नहीं है।

मनको एकाग्र करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य दो उपाय बतलाये गये हैं (गीता ६। ३५)। इन दोनोंमें बिना वैराग्यके केवल अभ्यासद्वारा की हुई एकाग्रता स्थायी नहीं होती। भोगोंमें वैराग्य होनेपर भगवान्‌में और उनके नाममें प्रेम हो जाता है। तब जप करनेमें मन स्वतः लगता है, उसकी चंचलता मिट जाती है। बिना मनके किये हुए पाठ, स्तुति और जप आदिका महत्त्व नहीं है, ऐसी बात नहीं है; पर मनसहित किये जानेवाले साधनका महत्त्व बहुत अधिक है। जैसे वैज्ञानिक रीतिसे वस्तुओंका उपयोग करनेमें और बिना तत्त्व समझे उनके साधारण उपयोगमें बड़ा भारी अन्तर है।

✦✦

[२०]

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार विदित हुए। उत्तर इस प्रकार है—

(१) भगवत्प्राप्तिका मार्ग अनादिकालसे हृदयस्थ शंकाओंको मिटानेके लिये ही अपनाया जाता है। अतः छिपी हुई शंकाएँ सामने आती रहती हैं और समाधान होनेपर शान्त हो जाती हैं। इस दृष्टिसे शंकाओंका होना लाभप्रद है, पर जो स्वयं तो विवेकद्वारा समझता नहीं और समझानेवालेपर श्रद्धा नहीं करता,

उसके लिये शंका हानिकर हो जाती है। जबतक भगवान्‌का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तबतक शंकाओंका समूल नाश नहीं होता।

(२) गायत्रीमन्त्रका जप सायंकाल बैठकर और प्रातःकाल खड़े होकर भी किया जा सकता है। जिस प्रकार जापक अधिक समयतक सुखपूर्वक स्थिर रह सके और जिस प्रकार करनेपर उसका मन स्थिर हो सके वही उसके लिये श्रेष्ठ है।

(३) जिसका इष्ट गायत्री है, उसे जप उसी प्रकार करना चाहिये, जिस प्रकार उसका मन अधिक-से-अधिक प्रसन्नतापूर्वक जपमें लगा रहे।

(४) जप करते समय ध्यान उसका करना चाहिये, जो साधकका इष्ट हो, जिसको वह सर्वोत्तम, सर्वशक्तिमान् मानता हो, जिससे बढ़कर किसी अन्यको न मानता हो। स्वरूपके विषयमें यह बात है कि जो स्वरूप उसके प्रेम और आकर्षणको बढ़ानेवाला हो, जिसके ध्यानमें उसका मन अनायास लगता हो, जिसपर उसका दृढ़ विश्वास हो, जिस स्वरूपका ध्यान वह कर सकता हो।

(५) जपके विषयमें शास्त्रोंका कथन है कि वाणीद्वारा किये जानेवाले जपकी अपेक्षा उपांशु जप दसगुना श्रेष्ठ है और उससे भी मानस जप दसगुना श्रेष्ठ है। पर यह साधारण नियम है। वास्तवमें जो जिसका अधिकारी है, उसके लिये वही अधिक श्रेष्ठ है।

यदि वाणीद्वारा जप करनेसे उसमें मन लगता हो, रुचि बढ़ती हो, करनेमें सुगमता प्रतीत होती हो एवं मानसिक जप करते समय जपमें भूल होती हो, मनमें दूसरे संकल्प अधिक उठते हों, उत्साह और प्रीति न बढ़ती हो, मनमें उकताहट या आलस्य आता हो तो उसके लिये वाणीसे जप करना अच्छा है। किंतु जप श्रद्धा-भक्तिपूर्वक होना चाहिये।

ध्यानके लिये स्थान हृदयाकाश उत्तम माना जाता है। इसमें भी साधकको अपनी रुचि, प्रीति, श्रद्धा और योग्यतापर विचार कर ही निर्णय करना चाहिये।

(६) गायत्रीपुरश्चरणके विषयमें मेरी अधिक जानकारी नहीं है। मैंने इसका विधिवत् अनुष्ठान कभी नहीं किया। अतः आप इस विषयके किसी जानकार विद्वान्से पूछें तो अच्छा होगा।

(७) मनको वशमें करनेके उपाय भगवान्ने दो बताये हैं— एक अभ्यास, दूसरा वैराग्य। बिना वैराग्यके केवल अभ्याससे मन वशमें होना कठिन है। (गीता-तत्त्वविवेचनी अध्याय ५ के २२ वें, अध्याय ६ के २५-२६ वें और ३५-३६वें श्लोकोंको देखें।)

(८) त्यागने योग्य संकल्प वही है, जो व्यर्थ हो तथा जिसमें किसीके अहितकी भावना हो एवं जो भोगकामना और पापसे युक्त हो। इच्छा और आसक्तिपूर्वक होनेवाली सांसारिक स्मृतिको संकल्प कहते हैं।

(९) '**सत्यम्**' परमेश्वर सत्य है, '**शिवम्**' वह कल्याणमय है, '**सुन्दरम्**' वह सब प्रकारसे सुखप्रद और आनन्दस्वरूप है। यह तीनोंका शब्दार्थ है। तीनों ही भगवान्के नाम हैं, अतः जब जिस मौकेपर आवश्यक हो, बोले जा सकते हैं।

(१०) '**ॐ**' यह भगवान् परब्रह्म परमेश्वरका नाम है। इसके द्वारा परमेश्वरकी ही उपासना, स्मरण और ध्यान किया जाता है। नाम और नामीकी एकता है। इस दृष्टिसे नामको भी अक्षरब्रह्म कहा जाता है और प्रभुके स्वरूपकी ही भाँति उनके नामका भी ध्यान किया जा सकता है। ॐकार भगवान्के निर्गुण और सगुण दोनों ही रूपोंका वाचक है। अतः दोनों ही प्रकारके उपासक इसके द्वारा उपासना कर सकते हैं।

(११) रामचरितमानसके पाठमें सम्पुट उस चौपाईका लगाया जाता है, जिसमें पाठककी कामना स्पष्ट व्यक्त होती हो। यदि सकाम न हो तो उसका लगाया जाता है, जो साधकको अधिक प्रिय हो, जिसके बार-बार बोलनेमें उसको अधिक प्रेम उमड़ता हो या भावकी जागृति होती हो और भगवान्‌की स्मृति होती हो। सम्पुट लगाये जानेसे वह कार्य सिद्ध होता है या नहीं, यह तो पाठककी श्रद्धा या प्रीतिपर तथा फलदाता ईश्वरकी इच्छापर निर्भर है।

(१२) गीता और रामायणका कितना पाठ करना चाहिये, इसकी सीमा नहीं होती। पाठ करनेवाला जितना कर सके, जहाँतक उसको कोई अड़चन या थकावटका अनुभव न हो, उत्साहमें कमी न आये, भाव बढ़ता रहे, वहाँतक अवकाशके अनुसार करते रहना अच्छा है।

(१३) पितर चाहे जिस योनिमें गया हो, उसके निमित्तसे किया हुआ श्राद्ध आदि पुण्यका फल उसे प्रत्येक योनिमें समयपर मिलता रहता है। जैसे पुरुषको अपने किये हुए कर्मोंका फल मिलता है, उसी प्रकार उसके निमित्त दूसरोंके द्वारा दिये जानेपर भी उसे मिलता है। जैसे बैंकमें कोई भी चाहे जिसके नामपर रुपया जमा कर सकता है, पर वापस नहीं ले सकता।

(१४) ब्राह्ममुहूर्त सूर्योदयसे चार घड़ी पहलेका समय माना गया है। गायत्रीमन्त्रका जप वैसे तो जब भी पवित्र होकर किया जाय तभी अच्छा है। पर सूर्योदयसे पहलेका समय अधिक उत्तम है, क्योंकि उस समय चित्त शान्त रहता है।

(१५) आत्माको पहचाननेका तरीका है—नित्य और अनित्यका विवेचन और समझमें आयी हुई बातपर दृढ़ विश्वास।

[२१]

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण। आपका पोस्टकार्ड मिला। समाचार मालूम हुए। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

(१) भगवान् सब कुछ कर सकते हैं। यदि ऐसा न हो तो उनकी भगवत्ता ही कैसी? भगवान्‌की कृपासे जो काम होता है उसमें भी कारण तो भगवान् ही हैं। अतः उनकी कृपासे होना और उनके द्वारा किया जाना दो बात नहीं है। पर भगवान् ऐसा कब और क्यों करते हैं, यह दूसरा कोई नहीं बता सकता। अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार सब कहते हैं, पर असली कारण और रहस्यको भगवान् स्वयं ही जानते हैं।

(२) प्रारब्धका भोग अमिट अवश्य है, पर वहींतक अमिट है, जहाँतक मनुष्यकी सामर्थ्यका विषय है। भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, उनके लिये कोई काम असम्भव नहीं कहा जा सकता। वे असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं। भगवान्‌ने जो यह कहा है कि—

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥

(रामचरित० सुन्दर० ४३। १)

—यह उनके अनुरूप ही है, क्योंकि वे शरणागतवत्सल ठहरे। अतः तुलसीदासजीका लिखना सर्वथा ठीक है।

(३) प्रह्लादकी रक्षामें उसका प्रारब्ध कारण नहीं है, उसमें तो एकमात्र भगवान्‌की उस महती कृपाका ही महत्त्व है, जो कि अचल निष्ठा और विश्वासके कारण कहीं-कहीं आवश्यकतानुसार अपना प्रभाव प्रत्यक्ष प्रकट करती है।

(४) भगवान्‌का भक्त भगवान्‌से किसी भी वस्तुके लिये याचना करे तो भी भगवान् नाराज नहीं होते। यदि उचित समझते हैं तो उसकी कामनाको पूरी भी कर देते हैं। पर जो भगवान्‌के प्रेमी भक्त हैं, जिनका एकमात्र प्रभुमें ही प्रेम है, उनके मनमें कामनाका

संकल्प ही नहीं उठता। उनके विचारमें जगत्की कोई भी वस्तु आवश्यक ही नहीं रहती। वे तो जो कुछ करते हैं भगवान्की प्रसन्नताके लिये ही करते हैं और जो कुछ होता है उसे भगवान्की कृपा मानते हैं; इसलिये उनके लिये कामना या याचनाका कोई प्रश्न ही नहीं रहता।

दण्डकवनके ऋषि-मुनि और अन्य संत, जो दानवी और भौतिक शक्तिसे मारे गये, उनकी रक्षा करनेमें भगवान्की कृपाशक्ति असमर्थ थी, ऐसी बात नहीं है; उनके शरीरोंका नाश उस प्रकार कराना ही भगवान्को अभीष्ट था, इसलिये रक्षा नहीं की। जिनकी रक्षा करना आवश्यक था, उनकी रक्षा कर ली। भगवान्की कृपा कौन-सा काम क्यों करती है और क्यों नहीं करती, इसका अनुमान मनुष्य कैसे करे?

(५) भौतिक या आसुरी शक्तियोंको परास्त करनेका सर्वोत्तम उपाय भक्तियुक्त निष्काम सेवा है। जिसको इस भौतिक जगत्से कुछ लेना नहीं है, केवल भगवान्के नाते उनके आज्ञानुसार उन्हींकी कृपासे मिली हुई शक्तिसे जगत्की सेवा-ही-सेवा करना है, वह समस्त भौतिक और आसुरी शक्तियोंको अनायास परास्त कर सकता है। प्रह्लाद भी भगवान्का निष्कामी और परम विश्वासी एकनिष्ठ भक्त था। ऐसे भक्तसे भगवान् स्वयं मिलते हैं, छिप नहीं सकते।

[२२]

सादर हरिस्मरण!

आपका पोस्टकार्ड मिला, समाचार मालूम हुए। उत्तर इस प्रकार है—

आप चिकित्साकार्य वृत्तिके लिये करते हैं तो इसमें कोई

दोषकी बात नहीं है। आप वृत्तिके लिये करते हुए भी अपने कामसे जगत्-जनार्दनकी सेवा कर सकते हैं। जीविकाके लिये दूसरा काम खोजनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। मेरी समझमें तो आप जो कुछ करते हैं और कर सकते हैं, जो काम करनेकी आपमें योग्यता है, वह सभी काम भगवान्‌की सेवा बन जाय—यही ठीक होगा। जीवन-निर्वाह तथा बाल-बच्चोंका भरण-पोषण भी तो प्रकारान्तरसे भगवान्‌की सेवा ही है। अपने शरीर और बाल-बच्चोंको यदि आप अपने न मानकर उस प्रभुके ही समझें और सबकी सेवाके साथ उनकी सेवाको मिला दें तो क्या सब-का-सब काम भगवान्‌की सेवा नहीं बन जायगा?

मेरी समझमें आपको साझेदारीकी झंझटमें नहीं पड़ना चाहिये। दूसरेकी मेहनतसे होनेवाली कमाई चाहे वह कितनी ही अच्छी हो, आपके लिये हितकर नहीं होगी; क्योंकि आपको उसके अधीन बना देगी।

[२३]

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार मालूम हुए। आपने करीब डेढ़ सालसे भगवान्‌के दर्शनकी इच्छासे साधन आरम्भ कर दिया, यह बड़े ही सौभाग्यकी बात है। आपने अपने साधनका प्रकार लिखा और उसपर मेरी सम्मति माँगी, उसका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

(१) भगवान् रामचन्द्रजीके चित्रपटको सामने रखकर उनके मुखारविन्दपर दृष्टि जमानेकी बात मालूम हुई। पर उसमें इतना सुधार आवश्यक है कि आपको सामने रखे हुए जड चित्रका ध्यान नहीं करना है। वह चित्र जिनका है उनका ध्यान करना है। चित्रपट तो केवल उनके स्वरूप और आकृतिकी याद

दिलानेका ही काम कर सकता है। जैसे आपके एक प्रिय मित्रका चित्र देखनेसे आपको वह याद आने लग जाता है और उसके वास्तविक स्वरूप और आकृतिका ध्यान होने लगता है, वैसे ही होना चाहिये। चित्रपट ही भगवान् नहीं है, पर वह जिसका है वह भगवान् है।

आप ध्यान करते हुए मानसिक पूजन करते हैं, यह भी ठीक है तथा उसके बाद 'हरे राम०' मन्त्रका जप करते हैं, वह भी ठीक है। जप करते समय बीचमें दूसरे संकल्प न उठें तो और भी अच्छा हो।

जपके समय जीभ और होठ चलते रहें तो कोई हर्ज नहीं है।

'जै सियाराम' का कीर्तन करना भी अच्छा ही है। भगवान्के चित्रके सामने धूप-दीप करना भी ठीक ही है।

श्रीरामचन्द्रजीका ध्यान करते समय और दृष्टि जमाते समय जोर-जोरसे 'हरे राम०' मन्त्रका भजन करते रहनेपर ध्यानके स्थिर होनेमें विघ्न तो नहीं पड़ता है न? इसपर विचार करना चाहिये।

कोलाहल, बोलचालकी आवाज जहाँ न आती हो वैसे एकान्त स्थानमें बैठकर ध्यानका साधन करना अच्छा रहता है। कोलाहलसे बचनेका उपाय जोरसे भजन करना कैसे हो सकता है? क्योंकि उसकी ओर मन जायगा तो ध्यानमें विघ्न पड़ेगा ही।

नेत्र बंद करके भगवान्के मस्तकपर मन्त्र लिखा हुआ मानकर मनसे जप करना ध्यानके प्रतिकूल नहीं पड़ेगा, ऐसी मेरी मान्यता है।

ध्यानका साधन समाप्त करनेके बाद कीर्तन करना साधनके विपरीत नहीं है, पर कीर्तनके साथ-साथ जिसके नामका कीर्तन किया जाता है, उस प्रभुकी स्मृति भी रहे तो और भी अच्छा है।

आँखें खोलकर दृष्टि जमानेका साधन करते समय और आँखें बंद करके ध्यान करते समय भी मनसे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक

भगवान्‌का स्मरण करते रहना चाहिये। ऐसा होगा तो मनको विषयोंकी ओर जानेका समय ही नहीं मिलेगा।

कान बंद करके अंदरकी आवाजमें भगवान्‌के नामकी ध्वनि सुननेका साधन भी बड़ा उत्तम है। इसमें हानिकी तो कोई बात ही नहीं है। दूसरे साधनोंके साथ इसे भी किया जा सकता है, यह साधन रात्रिमें और भी सुगमतासे किया जा सकता है, क्योंकि उस समय हल्ला-गुल्ला कम होकर शान्त वातावरण हो जाता है।

दृष्टि जमानेका और आँख मूँदकर ध्यान करनेका परिणाम तो मनकी स्थिरता और शुद्धि, बुरे संकल्पोंका नाश और शान्ति इत्यादि हुआ करते हैं। भगवान्‌में प्रेम होना उसका असली फल है।

भगवान्‌को ही गुरु मानकर चलना बहुत ही उत्तम है।

✦✦

[२४]

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण। पत्र मिला। समाचार मालूम हुए। आपने अपने जीवनका हाल लिखा और अपने पिताजीके कठोर स्वभावकी बातें लिखीं, सो सब बातें मालूम हुईं। इस परिस्थितिमें आपने अपना कर्तव्य पूछा, सो अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार नीचे लिख रहा हूँ।

मनुष्यको चाहिये कि किसीके अवगुण और कर्तव्यपालन न करनेकी ओर न देखे, अपना कर्तव्यपालन करता रहे और दूसरेसे किसी प्रकारके सुखकी आशा न करे। ऐसा करनेसे वह अपने साथियोंके मनको भी बदल सकता है और सबका प्रेम प्राप्त कर सकता है। अतः आपको चाहिये कि आप अपने पिताजीके दोष न देखें। ऐसा समझें कि यह परिस्थिति मुझे भगवान्‌की कृपासे संसारमें वैराग्य उत्पन्न करने और घरवालोंसे मोह छुड़ानेके लिये मिली है, अतः मुझे पिताजीपर क्रोध, घृणा या द्वेष नहीं करना चाहिये।

नित्यप्रति उनको प्रणाम करना चाहिये। उनकी आज्ञाका पालन और सेवा करनी चाहिये। हर प्रकारसे उनको सुख देना चाहिये। वे क्रोध करें, कठोर वचन कहें तो उनको सहन करना चाहिये तथा बड़े नम्र शब्दोंमें उनसे विनययुक्त प्रार्थना करनी चाहिये। उनके क्रोधके कारणको जानकर भविष्यमें उनके क्रोधका कारण नहीं बनना चाहिये। जिस प्रकार उनके क्रोधका नाश हो, उनको शान्ति मिले, वैसी ही चेष्टा करनी चाहिये। पुरानी घटनाओंको याद नहीं करना चाहिये। उन घटनाओंका चिन्तन करनेसे मनमें विकार उत्पन्न होता है, लाभ कुछ भी नहीं होता; अतः उनको भुला देना चाहिये।

✦✦

[२५]

सप्रेम राम-राम। आपका पत्र मिला। हमने आपके पत्रका उत्तर विस्तारसे दिया, इससे आपको बहुत ही संतोष तथा आनन्द प्राप्त हुआ, सो आपके प्रेम और भावकी बात है।

आपने लिखा कि मेरा पूर्वसंचित कर्म पापमय ही रहा है, इसी कारण भगवान्‌ने बचपनसे ही रोग दे दिया। सो अवश्य ही ऐसा रोग पूर्वकृत कर्मका ही फल है। पर इससे तो पापसे छुटकारा हो रहा है, यह अच्छा ही हो रहा है। आपने यह भी लिखा कि मेरे क्रियमाणमें भी खोटे ही कर्म अधिक बने हैं और बन रहे हैं, सो अब तो खोटे कर्मोंको नहीं बनने देना चाहिये। पहले जो खोटे कर्म बन चुके हैं, उनके लिये भगवान्‌से करुणभावपूर्वक रो-रोकर क्षमा माँग लेनी चाहिये एवं भविष्यमें खोटे कर्म बिलकुल न करनेका दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये। साथ ही निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर उनके भजन-ध्यानमें तत्परतापूर्वक लग जाना चाहिये। पहले किसीसे चाहे बड़े-से-बड़ा पाप क्यों न बन चुका हो, परंतु जो भविष्यमें पाप न करनेका निश्चय करके भगवान्‌की प्राप्तिके लिये भजन-ध्यानमें

तत्पर हो जाता है, वह उस पापसे रहित होकर शाश्वती शान्तिको प्राप्त कर लेता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। गीता-तत्त्वांक या गीता-तत्त्वविवेचनी टीकामें अध्याय ९ श्लोक ३० और ३१ की व्याख्या देखनी चाहिये। भगवान्‌ने स्पष्ट शब्दोंमें ही सब बातें बतायी हैं। अतः आपको आशावादी होकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्‌के भजन-ध्यानमें लग जाना चाहिये।

आपने आगे जाकर लिखा कि 'आपके सत्संगकी बातें सुनकर अच्छी राहकी ओर चलनेका प्रयत्न करता हूँ, किंतु पूर्वके संस्कार बाधा डालते हैं' सो ठीक है। इसके लिये आपको दृढ़तापूर्वक नित्य-निरन्तर श्रद्धा, भक्ति और निष्कामभावसे जप-ध्यान करते रहना चाहिये। इस प्रकार करते-करते पूर्वके संस्कार धीरे-धीरे बिलकुल समाप्त हो सकते हैं।

सत्संगसे भगवान्‌को प्राप्त करना ही मुख्य काम समझकर साधनोपयोगी साहित्यका संग्रह करके आपने अपने मनसे ही साधन करना शुरू कर दिया, सो अच्छा ही किया। इस समयकी साधन-सम्बन्धी स्थिति यह लिखी कि न तो ठीक साधनका ही निर्माण हुआ और न इन्द्रिय तथा मन ही वशमें हुए, सो इन्द्रिय तथा मन वशमें न होनेके कारण ही साधनके होनेमें कमी रह रही है। अतः गीता (अ० ६ श्लोक ३५)-के अनुसार इन्द्रिय एवं मनको अभ्यास तथा वैराग्यके द्वारा वशमें करना चाहिये। भगवान्‌के सिवा किसी भी सांसारिक पदार्थमें मन-इन्द्रियाँ जायँ तो उसको दुःखका हेतु और नाशवान्—क्षणभंगुर समझकर उसमें रमण नहीं करना चाहिये (गीता अ० ५ श्लोक २२ देखें)। भगवान्‌के सिवा सब वस्तुओंमें रागके अभावका नाम ही 'वैराग्य' है और भगवान्‌की प्राप्तिके लिये जप-ध्यानकी सतत चेष्टाका नाम ही 'अभ्यास' है।

भगवान्‌की कृपापर आपको विश्वास है, सो बहुत ही उत्तम

बात है। आपने यह भी लिखा कि 'भगवान् कृपा तो करेंगे ही, अत: मैं मनमानी कर लिया करता हूँ', सो आपको मनके वशमें होकर मनमानी क्रिया नहीं करनी चाहिये। यही पतनमें हेतु है। मनको अपने वशमें करके भगवान्‌के आदेशानुसार साधन करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

आपने लिखा कि मैं सोचता तो बहुत हूँ, किंतु कुछ भी कर नहीं पाता, सो इसमें आपके श्रद्धा और विश्वासकी कमी है; अत: श्रद्धा-विश्वास बढ़ाना चाहिये। श्रद्धा-विश्वास बढ़नेपर साधनमें तीव्रता हो सकती है।

आपने लिखा कि मेरी वासनाएँ अभी शान्त नहीं हुई हैं, सो इसके लिये संसारके पदार्थोंमें दु:खबुद्धि, अनित्यबुद्धि एवं त्याज्यबुद्धि करके उनसे वैराग्य करना चाहिये।

आप दिन तथा रातके समय नींदके सिवा सदा भगवान्‌के नामका जप करते रहते हैं, सो बहुत ही उत्तम है। उस समय आपका मन इधर-उधर भटकता रहता है, सो भगवान्‌का नाम लेनेमें रसानुभूति करनी चाहिये। जब जप करनेमें एक प्रकारका रस आने लग जायगा, तब अपने-आप ही इस काममें मन लग सकता है।

जप किस मन्त्रका किया जाय, इस बातको लेकर आपके मनमें जो भिन्न-भिन्न शंकाएँ उठती हैं, सो ऐसा होना आश्चर्यकी बात नहीं है। मन्त्र-दीक्षाके सम्बन्धमें लिखा, सो दीक्षा देनेकी न तो मुझमें योग्यता है और न मेरा अधिकार ही है। हाँ, मित्रता एवं प्रेमके नाते मैं आपको सलाह दे सकता हूँ। कलियुगके लिये षोडश नाम-मन्त्रकी शास्त्रोंमें विशेष महिमा आती है।

अत: आपको—

'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'

—इस षोडश नाम-मन्त्रका जप अधिक-से-अधिक संख्यामें करना चाहिये। श्रीतुलसीदासजीने रामायणमें रामनामकी विशेष महिमा गायी है। आपकी श्रद्धा एवं रुचि रामनामपर हो तो केवल 'राम' नामका ही जप कर सकते हैं।

'आप किस मन्त्रका जप करते थे' पूछा, सो ठीक है, किंतु यह व्यक्तिगत बात है। मनुष्यको अपना जप-मन्त्र गुप्त ही रखना चाहिये, अतः लिखनेमें लाचारी है। आपके लिये षोडश नाम-मन्त्र या रामनाम ही ठीक है। आप इनमेंसे किसीका जप कर सकते हैं।

आपने अपनेमें श्रद्धा, प्रेम, भक्ति आदि सबका अभाव लिखा, साथ ही भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा भी लिखी, सो यह इच्छा करना बहुत उत्तम है। इस इच्छाको खूब बढ़ाना चाहिये। जब भगवान्‌के मिले बिना रहा ही न जाय, तब अविलम्ब ही भगवान् प्रकट होकर साक्षात् दर्शन दे सकते हैं। इसमें कुछ भी संशय नहीं है। केवल भगवान्‌को प्राप्त करनेकी सच्चे मनसे तीव्र इच्छा होनी चाहिये; फिर श्रद्धा-भक्ति और प्रेम अपने-आप ही हो जाते हैं।

वेद, उपनिषद् और यज्ञमें यज्ञोपवीतधारी द्विजातिका ही अधिकार है। इनमें शूद्र और स्त्रियोंका अधिकार नहीं है।

आप क्षत्रिय हैं, आपके अभीतक यज्ञोपवीत नहीं हुआ है तो यज्ञोपवीत-संस्कार करा लेना चाहिये।

× × × यह आपका लिखना ठीक ही है कि सत्संगके बिना शिथिलता आ जाती है। इसीलिये वर्षमें लगभग चार मास ऋषिकेशमें सत्संगका आयोजन किया जाता है।

आपने अपनेपर कृपा करनेके लिये लिखा, सो मुझमें कृपा करनेकी सामर्थ्य है ही कहाँ? कृपा तो भक्तवत्सल, कृपानिधान भगवान् ही कर सकते हैं और उनकी कृपा सबपर है ही। जो

अपनेपर जितनी कृपा माने, वह उतना ही लाभ उठा सकता है; अतः अपनेपर उनकी अधिक-से-अधिक कृपा माननी चाहिये। भगवान्‌की कृपाका वर्णन करते हुए आपने स्वयं लिखा कि अत्यन्त पापी होते हुए भी मुझे भगवान्‌ने मनुष्य-शरीर दिया और इसपर भी कृपा करके सत्संग प्राप्त करा दिया, मोक्षकी इच्छा भी जाग्रत् कर दी तथा साधन भी मालूम करा दिये एवं रात-दिन कृपाकी वर्षा करते ही रहते हैं, सो आपका इस प्रकार मानना बहुत ही उत्तम है। अबतक इतना होते हुए भी ठीक रास्तेपर न आ सकनेका कारण पूछा, सो कारण तो श्रद्धाकी कमी ही है। भगवान्‌की कृपाविषयक जो बातें आपने लिखी हैं और मैंने उद्धृत की हैं, उन बातोंपर आपका दृढ़ विश्वास होना चाहिये। श्रद्धा और विश्वास होनेपर सारी कमियोंकी पूर्ति हो सकती है। भगवान्‌की प्राप्तिमें विलम्ब होनेका हेतु अश्रद्धा ही है। इसके लिये शरणागतवत्सल भगवान्‌की शरण लेकर उनकी प्राप्तिके लिये तत्परतासे साधनमें लग जाना चाहिये; फिर उनकी कृपासे सब कुछ हो सकता है। सबसे यथायोग्य।

✦✦

[२६]

सादर हरिस्मरण।

आपका पत्र मिला। कीर्तनमण्डलियोंका तो एकमात्र उद्देश्य भगवन्नामप्रचार होना चाहिये, उसमें वाद-विवादको स्थान कहाँ? वाद-विवाद तो वहीं होता है जहाँ प्रचारका उद्देश्य अपनी मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा बढ़ाना हो या लोगोंको रिझाकर उनसे कुछ प्राप्त करना हो। जिस मण्डलीका ऐसा उद्देश्य है वह कहनेके लिये कीर्तनमण्डली भले ही हो, पर वास्तवमें उसे संगीत-मण्डली कहना चाहिये।

आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) कीर्तन देवालयमें न होकर घरमें हो तो भी कोई हर्ज नहीं है। कीर्तनके साथ मानसकी चौपाइयोंका बोलना भी उत्तम है, पर चौपाइयाँ भावपूर्ण हों। चौपाईके साथ कजली आदिकी तुक न लगाकर 'जय सीताराम' आदि भगवन्नामकी तुक लगानी चाहिये; क्योंकि कीर्तन तो वास्तवमें भगवान्‌के नाम-रूप और गुण-प्रभावका ही करना है। राग-रागिनी मात्रका नाम कीर्तन थोड़े ही है, उसका नाम तो संगीत है।

(२) रामायणको बोलते-बोलते थक जानेपर विश्राम लेना तो कोई बुरी बात नहीं है, पर विश्रामके समय भी भगवान्‌के गुण-प्रभावकी ही चर्चा होनी चाहिये, व्यर्थ बातों या बाजोंकी धुनमें समय नष्ट नहीं करना चाहिये। रामायणकी जिन चौपाइयोंको बोला जाय, उनके अर्थपर विचार-विमर्श हो तो वह और भी अच्छा है।

(३) रामायण और कीर्तनके समय यदि पेशाबकी हाजत हो जाय तो बाहर जाकर पेशाब कर आना कोई बुरी बात नहीं है। धूम्रपान तो वस्तुतः तामसी ही है, उसका तो सर्वथा त्याग ही कर देना चाहिये। बाहर जाते समय सभ्यता और विनयपूर्वक चुपकेसे जाना और आना चाहिये, जिससे बैठे हुए लोगोंमेंसे किसीको भी न तो कष्ट हो और न किसीका अपमान ही हो।

(४) कीर्तनके साथ सिनेमाके गानेका सम्बन्ध कतई नहीं जोड़ना चाहिये। जिस मण्डलीका उद्देश्य भगवान्‌के नाम-रूप और गुण-प्रभावका कीर्तन करना है, उसे विषयवासनाको बढ़ानेवाले गानों और रागोंकी क्या आवश्यकता? उसे तो भगवान्‌में प्रेम बढ़ानेवाले भावपूर्ण गानोंको गाना चाहिये। वे यदि पूर्वके संतोंके द्वारा रचे हुए हों तब तो बहुत ही ठीक है और

यदि किसी वर्तमान अनुभवी संतके बनाये हुए हों तो भी अच्छा ही है।

विषयासक्त लोगोंके कहने या दबाव डालनेपर अपने सिद्धान्तके विपरीत गाना गानेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

(५) कीर्तनके बीचमें यदि कोई दूसरा व्यक्ति सिनेमाका गाना आरम्भ कर दे तो उसे नम्रतापूर्वक अवश्य मना कर देना चाहिये। साँवलियाका अर्थ श्रीकृष्ण लगाना कोई अनुचित नहीं है, पर गानेका भाव दूषित और कामोत्तेजक हो तो नहीं गाना चाहिये।

(६) कीर्तनसमाजके सदस्यका कीर्तन समाप्त होनेके पहले बीचमें सिनेमाका गाना आरम्भ कर देनेवालेको रोकना अनुचित नहीं है। पर वह रोकना सभ्यता, विनय और प्रेमके साथ शान्तिपूर्वक होना चाहिये, उद्दण्डता और अपमानपूर्वक या द्वेषकी भावनाको लेकर नहीं।

(७) शास्त्रीय इतिहासके आधारपर किसी भक्तकी गाथा गीतके रूपमें रची गयी हो और उसका भाव भगवान्में प्रेम बढ़ानेमें सहायक हो तो उसका गाना अनुचित नहीं है। उसको कीर्तनका रूप भी दिया जा सकता है, यदि उसमें भगवान्के नाम, रूप, लीला और गुण-प्रभावका वर्णन हो।

✦✦

[२७]

आपका पत्र मिला। समाचार मालूम हुए। आपने पत्रके अन्तमें लिखा है कि इस पत्रका उत्तर जयदयालजी गोयन्दका ही दें, इसलिये आपको ज्ञात कराया जाता है कि मैं पत्रका उत्तर स्वयं नहीं लिख सकता, मेरी आँखें कमजोर हैं। उत्तर दूसरेसे लिखवाकर उसे सुन लिया करता हूँ, अतः इसीसे आपको संतोष करना चाहिये।

आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

पुराणोंमें देवताओं और अन्य महान् व्यक्तियोंके जन्म तथा चरित्रोंमें, उनकी कथाओंमें बहुत हेर-फेर आता है, यह बिलकुल ठीक है तथा आलोचकोंने मनुष्य-जातिको नास्तिकताकी ओर खींचनेका प्रयत्न किया, यह भी ठीक है। भगवान्‌की माया दुस्तर है, यह भी आपका कहना ठीक है। कुछ महानुभावोंने जो इसका उत्तर कल्पभेदसे बताया, उनका कहना भी निराधार नहीं है।

आपने इस विषयमें यह शंका की कि यदि कल्प और युगका भेद है तो उनके पूर्वजों एवं अन्य परिजनोंमें भेद क्यों नहीं हुआ, सो उन सबमें भी भेद हुआ है, नामभेद कम है, पर व्यक्तिभेद बहुत है। रामका अवतार प्रत्येक त्रेतायुगमें हो यह कोई निश्चित नहीं है, परंतु बहुत-से त्रेतायुगोंमें रामका अवतार हुआ हो और उनकी कथाओंका मिश्रण हो गया हो, इसमें भी कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। तुलसीदासजीने तो स्पष्ट ही कहा है कि मैंने यह कथा भिन्न-भिन्न पुराणोंमेंसे संकलित करके लिखी है, अतः इसे सुनकर किसीको आश्चर्य नहीं करना चाहिये।

इसी प्रकार अपनी-अपनी रुचिके अनुसार पूर्वके कवियोंने ये कथाप्रसंग लिखे हों और रुचिभेदके अनुसार कथाभेद हो गया हो तो ऐसा होना भी असम्भव नहीं है।

भागवतमें चौबीस अवतारोंके वर्णनमें व्यासावतारका वर्णन तो कृष्णावतारके समय आता है और शान्तनुकी स्त्री सत्यवतीकी कुमारी अवस्थामें, जब उसका नाम मत्स्यगन्धा था, पराशरजीके सकाशसे वेदव्यासजीका जन्म हुआ था। रामावतारसे पहले जो यह कथा आती है कि व्यासजीके भेजे हुए शुकदेवजी जनकके यहाँ गये हैं, वहाँ व्यास-जन्मकी कथा किस प्रकार आती है,

आपको मालूम हो तो लिखें। इससे यह तो पता लग ही जाता है कि त्रेताके और द्वापरके व्यासजी अलग-अलग थे।

महाभारतमें जो परशुरामद्वारा सर्वस्व-दानकी कथा है, वह किस कालकी और कहाँकी है, यह देखना चाहिये। महाभारत, वनपर्वमें तो रामावतारकी भी कथा आती है, वह त्रेतायुगमें प्रकट हुए रामचन्द्रजीकी ही है, द्वापरकालका चरित्र नहीं है, त्रेतायुगकी घटनाका वर्णन है।

गुरु द्रोणाचार्यने परशुरामजीसे बाणविद्या सीखी, भीष्मजीने भी उनसे बाणविद्या सीखी, यह तो ठीक है; पर इससे उन्होंने जो बहुत पहले इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रियहीन कर दिया था और पृथ्वीको दानमें दे दिया था, उससे कोई विरोध नहीं है। उन्होंने जो कश्यपजीको पृथ्वीका दान किया था, यह घटना रामावतारके भी पहलेकी है। उसका उल्लेख महाभारतमें होनेसे वह द्वापरकी घटना नहीं हो जाती।

भगवान् रामके विवाहके बाद परशुरामजी तपके लिये महेन्द्राचलपर चले गये थे, इसमें भी कोई विरोध नहीं है; क्योंकि उनके सर्वस्व-दानवाली घटना तो उसके भी पहलेकी है।

रामचरितमानसमें जो सतीके सीताका रूप बनानेकी कथा है वह बहुत पुरानी कथा है—यह वहाँके वर्णनसे ही स्पष्ट है। वर्तमान कलियुगके पहले जो द्वापर और त्रेतायुग हुए हैं, उनकी वह कथा नहीं है; क्योंकि उसके बाद तो शिवजीकी समाधि बहुत कालतक रही। फिर सतीका जन्म पार्वतीके रूपमें हुआ, शिवजीसे उसका विवाह हुआ। उसके बाद काकभुशुण्डिका प्रसंग आरम्भ करके शिवजीने रामकथा पार्वतीको सुनायी। काकभुशुण्डिको कितने कल्प बीत चुके, इन सब बातोंसे सत्युगमें सतीका दग्ध होना विरुद्ध नहीं पड़ता, क्योंकि त्रेताके बाद द्वापर, कलियुग

व्यतीत होनेपर जो सत्ययुग आया, उसमें सती दग्ध हुई हैं, यह भी वहाँके प्रसंगसे स्पष्ट होता है।

अन्तमें आपने लिखा कि वर्तमान युगमें कई ऐसे भक्त हो चुके हैं तथा अभी भी मौजूद हैं जिनको भगवान्‌के दर्शनोंका अवसर प्राप्त हुआ है तो क्या वे लोग इन प्रश्नोंका सही उत्तर उनसे प्राप्त नहीं कर सकते? सो इसका उत्तर कौन दे? मेरी समझमें यह आता है कि जिनको भगवान्‌की मधुर मूर्तिका दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त हो जाता है, वे तो उनके प्रेममें इतने मुग्ध हो जाते हैं कि उनके मनमें तो ऐसी शंकाएँ पैदा ही नहीं होतीं, फिर पूछे कौन?

जो लोग ऐसा दावा करते हैं कि अमुक देवताको मैंने वशमें कर लिया है, उनमें अधिक लोग तो ठग होते हैं, जो भोले भाइयोंको भ्रममें डालकर ठगते रहते हैं। इसके सिवा जो देवता मनुष्यके वशमें हो जाता है, वह बेचारा इन प्रश्नोंका उत्तर ही क्या देगा? उसको पता ही क्या? क्योंकि वह सर्वज्ञ तो होता ही नहीं; पितरोंकी सामर्थ्य तो देवताओंकी अपेक्षा बहुत कम होती है।

✦✦

[२८]

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र यथासमय मिल गया था। उत्तर देनेमें विलम्ब हो गया, सो किसी भी प्रकारका विचार नहीं करना चाहिये।

(१) मनुष्य-शरीर मिलना बड़ा कठिन है—यह आपका लिखना ठीक है। इस बातको समझकर मनुष्यको चाहिये कि इस अमूल्य जीवनका एक क्षण भी व्यर्थ न खोवे।

(२) आपकी परिस्थिति, अवस्था आदि सभी बातें मालूम हुईं। यदि आपको घरका झगड़ा मिटाना है, सबके साथ प्रेम

करना है तो आपको चाहिये कि किसीसे भी स्वार्थ सिद्ध करनेकी इच्छा न रखें। अपने बड़प्पनके अधिकारका अभिमान न रखें। घरवालोंके जो मनकी बात धर्मानुकूल हो, जिसको आप कर सकते हों, उसे बड़े उत्साह, प्रेम और परिश्रमके साथ पूरी करते रहें। दूसरा कोई अपना कर्तव्य पालन करता है या नहीं, उसकी ओर न देखें। किसीके भी दोष न देखें। जो कोई आपके प्रतिकूल व्यवहार करे उसे भगवान्‌का कृपायुक्त मंगलमय विधान मानें, दूसरे किसीका भी अपराध न समझें। अपना कर्तव्य पालन करनेमें न तो आलस्य करें, न प्रमाद करें। ऐसा करनेसे आपका सबसे प्रेम हो सकता है। आसक्ति और ममता मिटकर परम शान्ति और परम सुख मिल सकते हैं।

(३) यदि आप अपना उद्धार चाहते हैं तो एकमात्र प्रभुको ही अपना मानना चाहिये। भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास करके उनको अपना परम सुहृद् मानकर उनपर निर्भर हो जाना चाहिये तथा निरन्तर उनका ही भजन-स्मरण करना चाहिये एवं जो कुछ करें उसे उनका ही काम समझकर उनके आज्ञानुसार उन्हींकी प्रसन्नताके लिये करते रहना चाहिये।

(४) पण्डितजीने आपको जो एक श्लोक लिखकर दिया है वह भी ठीक है। वह शिवकी उपासना करनेके लिये चल सकता है, पर साथ ही यह विश्वास अवश्य होना चाहिये कि शिवजी ही सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ हैं; वे ही परब्रह्म परमात्मा हैं।

(५) आप कल्याणके ग्राहक हैं, रोज उसे पढ़ते हैं सो अच्छी बात है। उसमें लिखी हुई बातोंमें जो आपको अच्छी लगें, जिनपर आपकी श्रद्धा हो, जिनमें रुचि हो, जिन्हें आप पालन कर सकें, उन्हें काममें लावें और अपना जीवन साधनयुक्त बनावें। तभी मनुष्यजीवन सार्थक हो सकता है।

(६) भगवान्‌का भजन ध्रुवकी भाँति वनमें जाकर ही करना पड़े ऐसी बात नहीं है। प्रह्लादकी भाँति घरमें रहकर भी भजन किया जा सकता है। भगवान्‌पर श्रद्धा-विश्वास हो और भजन करनेकी तीव्र इच्छा हो तो अम्बरीषकी भाँति घरमें रहकर भजन बड़ी सुगमतासे किया जा सकता है।

(७) सत्संग करनेके लिये पिताजीकी आज्ञा न मिलनेके कारण ऋषिकेश न आ सके तो कोई बात नहीं। इसके लिये विचार नहीं करना चाहिये। जब उनकी आज्ञा मिले तभी आना चाहिये। नहीं तो वहीं रहकर 'कल्याण' और अच्छी पुस्तकोंद्वारा ही सत्संगका लाभ उठाना चाहिये।

(८) गया हुआ समय लौटकर नहीं आता, यह सर्वथा सत्य है।

(९) अपनेको नीचा समझना, किसी प्रकारके गुणका अभिमान न करना बहुत अच्छा है।

(१०) भगवान्‌की कृपा तो सदैव सबपर है, जो जितनी मानता है उतना लाभ उठा लेता है। ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ भगवान् और भगवान्‌की कृपा न हो।

(११) नाम-जप करते हुए भी भगवान्‌में प्रेम न होनेके कारण उनमें श्रद्धा तथा अपनत्वकी कमी है। आप भगवान्‌के अतिरिक्त संसारको और शरीरको अपना मानते हैं, इसी कारण संसारमें आसक्ति हो रही है और प्रेम बहुत जगह बँट गया है।

(१२) व्यर्थ स्वप्न न आवे, इसके लिये शयन करते समय भगवान्‌का भजन-स्मरण करते हुए शयन करना चाहिये।

(१३) गीता-पाठ, रामायण-पाठ आदि सभी नित्य-कर्म मन लगाकर श्रद्धा और प्रेमपूर्वक करना चाहिये।

(१४) आपको तीर्थ-भ्रमणसे शान्ति नहीं मिली, इसमें कोई

आश्चर्य नहीं; क्योंकि एक तो आप घरवालोंसे पूछकर नहीं गये, दूसरे तीर्थोंमें श्रद्धाकी कमी रही। भगवान्‌का भजन-स्मरण, श्रद्धा-प्रेमपूर्वक किया जाय और माता-पिताकी सेवा कर्तव्य समझकर आदरपूर्वक की जाय, बदलेमें उनसे किसी भी प्रकारकी कामना न की जाय तो शान्ति मिल सकती है।

(१५) हिमालय जानेपर भी आपका मन तो आपके साथ ही रहेगा। वहाँ भी सब बात आपके मनकी हो और कोई आपको नहीं सताये, ऐसी बात नहीं है। प्रतिकूलता सब जगह रहती ही है।

(१६) आपने फोटो मँगवाया, सो मैं अपना फोटो उतरवाकर किसीको नहीं भेजता; अतः इसके लिये कृपापूर्वक क्षमा करें।

(१७) भगवान्‌के दर्शन होनेमें विलम्ब हो रहा है, इसका एकमात्र कारण है श्रद्धा-प्रेमकी कमी। भगवान्‌के गुण-प्रभाव, तत्त्व-रहस्य-लीला-धामकी बातें सुनने और उनका मनन करनेसे ही भगवान्‌में प्रेम हो सकता है। प्रेमसे ही भगवान् प्रकट होते हैं।

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(रामचरित०, बाल० १८४।३)

भगवान्‌के जबतक दर्शन नहीं होते, तबतक कमी-ही-कमी है। भगवान्‌के दर्शन न हों तो हृदयमें व्याकुलता हो जानी चाहिये। जिस क्षण आपकी ऐसी स्थिति हो जायगी कि आपसे भगवान्‌के बिना रहा नहीं जा सकेगा, उसी क्षण भगवान्‌के दर्शन हो सकते हैं।

(१८) प्रतिदिन क्या दान करना चाहिये पूछा सो अपनी सामर्थ्यके अनुसार सात्त्विक दान करना चाहिये। गरीबों-अनाथों आदिकी निष्कामभावसे सेवा करना ही सबसे बड़ा दान है।

सबसे हरिस्मरण!

✦✦

[२९]

सादर हरिस्मरणपूर्वक प्रणाम! आपका पत्र यथासमय मिल गया था। उत्तर देनेमें समयाभावके कारण विलम्ब हो गया, सो आपको किसी भी प्रकारका विचार नहीं करना चाहिये। मेरे पत्रको पढ़कर आपको जो प्रसन्नता होती है, इसमें मेरी कोई विशेषता नहीं है। आपके प्रेमभाव और प्रभुकी कृपासे ही ऐसा होता है। आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

पूर्वजन्मोंके कर्म दो प्रकारके होते हैं—एक 'संचित' दूसरे 'प्रारब्ध'। 'संचित कर्म' उन कर्मोंको कहते हैं जिनका फल वर्तमान जन्मके लिये निश्चित नहीं हुआ है, अतः उनका नाश करनेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है। निष्काम-कर्म और उपासनाके द्वारा उनका नाश बड़ी सुगमतासे किया जा सकता है।

'प्रारब्ध कर्म' उन कर्मोंको कहते हैं जिनके फलस्वरूप वर्तमान शरीर मिला है एवं जिनके अनुसार सुख-दुःखप्रद अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थों, व्यक्तियों और परिस्थितियोंका संयोग-वियोग निश्चित कर दिया गया है। इस विषयमें उनकी अवश्य ही प्रधानता है। वर्तमानमें हम जो अच्छे या बुरे कर्म करेंगे, उनमेंसे कोई-कोई उग्र कर्म तो तत्काल प्रारब्ध बनकर प्रारब्धमें सम्मिलित हो जाता है। शेष सब संचित कर्मोंके साथ सम्मिलित हो जाते हैं। इस प्रकार यह कर्मचक्र चलता रहता है।

भगवान्‌का भजन-स्मरण इसलिये करना चाहिये कि संचित कर्म भस्म हो जायँ, फिर इस दुःखमय संसारमें न आना पड़े। नहीं तो, मरनेके बाद शूकर-कूकर आदि चौरासी लाख योनियोंमें भटकना पड़ेगा।

वर्तमान जन्ममें भगवान्‌पर निर्भर होकर भजन-स्मरण करनेसे सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि घरमें दरिद्रता, वस्तुओंका अभाव,

शरीरमें बीमारी, अपमान, निन्दा आदि प्रतिकूल घटनाओंके प्राप्त होनेपर भी वे हमारी शान्तिको भंग नहीं कर सकेंगी। हमारे लिये अनुकूलता और प्रतिकूलता समान हो सकती है। ऐसा हो जानेपर हमें कर्मके फलको बदलनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती, हमारा हृदय निरन्तर प्रभुके प्रेमसे भरा रह सकता है। इससे बढ़कर इस मनुष्य-जीवनका और लाभ हो ही क्या सकता है।

निष्काम-कर्म और ईश्वरभक्ति कभी भी बन्धनकारक नहीं होते। निष्कामभावसे केवल भगवान्‌के आज्ञापालनके रूपमें, उन्हींकी प्रसन्नताके लिये जो दूसरे देवताओंकी पूजा की जाती है और उसके बदलेमें उनसे किसी भी प्रकारके फलकी आशा नहीं की जाती, वह तो भगवान्‌की ही पूजा है। उसका फल तो वही होगा जो भगवान्‌की पूजा-भक्तिका होता है।

'भगवान्‌की शरणागति किसको कहते हैं'—इसका विस्तारयुक्त लेख मेरे द्वारा लिखित तत्त्व-चिन्तामणि नामक पुस्तकमें देख सकते हैं। पत्रमें कहाँतक लिखा जाय। ईश्वरकी पूर्णतया शरण हो जानेवाला न तो किसी भी परिस्थितिमें घबराता है, न संसारी लोगोंसे मदद माँगता है, वह तो सदाके लिये निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है।

[३०]

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे नीचे लिखा जाता है—

(१) जीव और आत्मामें कोई वास्तविक भेद नहीं है। बद्ध-अवस्थामें उसे 'जीव' कहते हैं और मुक्तावस्थामें वह 'आत्मा' कहा जाता है। आत्मा और परमात्मा दोनों ही चेतन ज्ञानस्वरूप हैं तथा अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार तो दोनों स्वरूपसे भी एक ही

हैं। जो स्वयं प्रकाशस्वरूप हो और अन्यको प्रकाशित करनेमें समर्थ हो, उसे 'चेतन' कहते हैं।

(२) समाधि लगानेके अनेक प्रकार हैं, इसका विस्तार योगदर्शनमें देखना चाहिये। यह बहुत लम्बा विषय है, पत्रद्वारा नहीं बताया जा सकता।

(३) समाधिमें शरीर चेष्टारहित होनेपर भी उसमें प्राण, जीवात्मा और सूक्ष्म-शरीरके तत्त्व विद्यमान रहते हैं, इसलिये शरीर नहीं सड़ता।

(४) मानसिक पूजामें समस्त सामग्री और पूजनकी क्रिया आदि मनसे संकल्पद्वारा ही की जाती है, यह तो सबकी ही समझमें आता है। इसमें पूछना क्या है, कुछ समझमें नहीं आया।

(५) आप सद्बुद्धि और सिद्धि चाहते हैं तथा इसी जीवनमें प्रभुदर्शन चाहते हैं, सो अच्छी बात है। सिद्धि भी दुःखियोंका दुःख हरनेके लिये चाहते हैं, यह भी अच्छी बात है। आप जैसा बनना चाहते हैं उसके अनुसार साधन कीजिये, तब प्रभु-कृपासे सब कुछ हो सकता है।

आप शान्तिपूर्वक विचार करें कि आप अपनी इच्छा पूरी करनेके लिये क्या साधन कर सकते हैं और क्या कर रहे हैं एवं इच्छा पूरी न होनेकी आपके मनमें वेदना है या नहीं। अगर है तो कितनी और किस दर्जेकी है। विचार करनेपर पता चलेगा कि आप अपनी शक्तिका प्रयोग जिस प्रकार करना चाहिये, ठीक-ठीक और पूरा नहीं करते। इसी कारण आपकी इच्छा पूर्ण होनेमें विलम्ब हो रहा है। मुझमें ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि मैं किसीको आशीर्वाद देकर उसकी इच्छाको पूरी कर दूँ। मैं तो समझता हूँ कि इच्छारहित होकर भगवान्‌की अनन्य भक्ति करना ही परम सिद्धिका

और भगवान्‌के दर्शन प्राप्त करनेका अमोघ उपाय है, जिसके करनेमें आप सर्वथा स्वतन्त्र हैं।

(६) आठ सिद्धियाँ इस प्रकार सुनी गयी हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व। पद्म, महापद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील और खर्व—इस प्रकार ये नौ निधियोंके नाम सुने गये हैं। इनका विस्तार यहाँ समझाना बहुत कठिन है।

(७) आपके पिताजी आपको गीतापाठ नहीं करने देते और पूजा आदि साधनमें समय लगानेपर भी क्रोध करते हैं। इस विषयमें आपको सोचना चाहिये कि इसका कारण क्या है? पिताजी आपका भला ही चाहते होंगे, बुरा नहीं; पिता तो आखिर पिता ही ठहरे। वे अपने पुत्रका अहित क्यों चाहेंगे? सम्भव है आप उनकी सेवा न करते हों या उनको इस बातका संदेह हो कि इधर लग जानेसे यह घर छोड़कर भाग न जाय या व्यापार वगैरहसे और घरके कामसे मन न चुराने लगे। इस प्रकारकी शंका यदि उनके मनमें हो तो बातचीत करके तथा अपने व्यवहार और आचरणद्वारा उसे दूर कर देना चाहिये। ऐसा करनेपर उनका मन बदल सकता है।

वे जो आपको झूठ बोलने, धोखाबाजी, बेईमानी और छल-कपट करनेके लिये बाध्य करते हैं तो बड़ी नम्रताके साथ विनयपूर्वक उनसे क्षमा माँगकर कहना चाहिये कि 'ऐसा करनेकी मुझमें शक्ति नहीं है। मेरी समझमें ऐसा करनेमें न तो आपका हित है न मेरा ही; अतः आप मेरा यह अपराध क्षमा करें जो इस विषयमें मैं आपकी आज्ञाका पालन नहीं कर रहा हूँ।' इसपर यदि वे बुरी-भली जबान कहें, गालियाँ दें, अपमान करें तो मनमें जरा भी क्रोध या दुःख नहीं करना चाहिये,

हर्षपूर्वक सबको सहन करते जाना चाहिये। भक्त प्रह्लादकी भाँति दृढ़ रहना चाहिये। पिताजीकी शारीरिक सेवा, नमस्कार तथा जो धर्म और साधनके प्रतिकूल न हो, ऐसी आज्ञाका पालन बड़े आदर, प्रेम और प्रसन्नताके साथ करते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे मेरा विश्वास है कि आपके पिताजीका स्वभाव बदल सकता है।

आप घरसे निकलकर न तो अपना ही सुधार कर सकेंगे और न अपने पिताजीका ही। मोह तो आपके अन्तःकरणमें है। वह तो आपके साथ, जहाँ आप जायँगे, वहीं रहेगा। घर छोड़नेसे तो मोहकी बेड़ी कटेगी नहीं और घरमें रहनेके कारण मजबूत नहीं होगी। उसका टूटना और मजबूत होना तो आपके साधनपर निर्भर है।

(८) यदि मनुष्य अपनी वस्तु किसी दुःखीकी सहायतामें लगानेका संकल्प कर ले, परंतु उसके पहले ही उस दुःखीकी जरूरत पूरी हो जाय, उसे उसकी आवश्यकता न रहे तो वह उस वस्तुका उपयोग दूसरे वैसे ही अभावग्रस्त दुःखीके हितमें कर सकता है जिसे उसकी आवश्यकता हो, इसमें कोई हानि नहीं है। हाँ, जिसको देनेका पूर्वमें संकल्प किया गया था, उसे भी संतोष करा देना चाहिये।

(९) हरेक प्राणीमें प्रभुका निवास समझना भाव और प्रेमकी बात है और सबके साथ वर्ण-आश्रमके अनुसार आचरण करना यह व्यावहारिक क्रियाकी बात है। प्रेम और तात्त्विक दर्शनमें ही समता हो सकती है। व्यवहारमें अर्थात् क्रियामें भेद तो सबको करना ही पड़ता है, क्योंकि यह अनिवार्य और आवश्यक है। अपने शरीरके सब अंगोंके साथ हम समताका आचरण नहीं कर सकते, यद्यपि उसमें सर्वत्र हमारा आत्मा, प्राण, ममता और प्रेम समान है, पर वस्तुको ग्रहण हाथसे करेंगे, शरीरपर कोई संकट

पड़ेगा तो रक्षाका काम हाथसे करेंगे, खानेका काम मुखसे करेंगे, देखनेका काम आँखसे करेंगे, मल-त्यागका काम गुदासे करेंगे इत्यादि। सभी कामोंमें भेद करना ही पड़ेगा, इस भेदको कोई मिटा नहीं सकता।

(१०) यज्ञोपवीतके बिना वैदिक मन्त्र और प्रणवके जपका अधिकार नहीं है। भगवान्‌के नामका जप किया जा सकता है; उसी प्रकार ॐकारको भी भगवान्‌का नाम मानकर कोई जप करे तो उसकी इच्छा है, किंतु शास्त्रकी ओरसे तो अधिकार नहीं है।

(११) नित्य-प्रति स्नान तो करना ही चाहिये, कपड़े भी धो लिये जायँ तो अच्छा ही है; क्योंकि सफाई भी पवित्रताका ही अंग है। कम-से-कम धोती तो अवश्य धोयी ही जानी चाहिये।

[३१]

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र यथासमय मिल गया था, समय कम मिलनेके कारण उत्तरमें विलम्ब प्रायः हो ही जाता है।

आपने अपने पुत्रके स्वभाव, आचरण और पढ़ाई वगैरहके समाचार लिखे; उनको पढ़ लिया, पर मैं ऐसा कोई भी मन्त्र, तन्त्र या औषध नहीं जानता जिसके प्रयोगसे आपके लड़केका स्वभाव बदल दिया जा सके।

अतः मेरी समझमें उसके लिये चिन्ता और दुःख करनेमें तो कोई लाभ नहीं है। उसमें जो आपलोगोंकी मोह-ममता है, उसे हटाकर उसे भगवान्‌की वस्तु मानना चाहिये तथा उसके सुधारका भार भी विश्वासपूर्वक भगवान्‌पर ही छोड़ देना चाहिये। ऐसा करनेपर आपलोगोंका और उसका भी हित हो सकता है।

आपने पूरी गीता याद कर ली, यह तो बहुत ही अच्छी बात है। अब उसमेंसे जो श्लोक आपको रुचिकर हों और जिनके

अनुसार जीवन बनाना आपको सुगम प्रतीत होता हो, ऐसे श्लोकोंको चुनकर उनके अनुसार जीवन बनानेकी चेष्टा प्रेम और विश्वासपूर्वक करनी चाहिये।

✦✦

[३२]

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार लिखे सो अवगत किये। आपने हमारे नामके आगे परम पूज्य श्री श्री आदि लिखा एवं पत्रमें जगह-जगह प्रशंसाके शब्द लिखे, सो इस प्रकार लिखकर मुझे संकोचमें नहीं डालना चाहिये। मैं तो साधारण आदमी हूँ। परम पूज्य एवं प्रशंसाके लायक तो एकमात्र भगवान् ही हैं, वे ही श्रद्धाके योग्य हैं।

आप 'तत्त्व-चिन्तामणि' का प्रेमसे पाठ करते हैं, सो आपके भावकी बात है। आप स्थूल बुद्धिके कारण उसे समझ नहीं पाते, सो जो बात आपके समझमें नहीं आवे, उसे बार-बार पढ़ना चाहिये। इस प्रकार करनेसे समझमें आ सकती है। उसमें जो बातें हैं, उनको समझकर काममें भी लानेकी कोशिश करनी चाहिये।

आपने मुझे दया करके संसारसागरसे पार करनेके लिये लिखा, सो यह मनुष्यकी सामर्थ्यके बाहरकी बात है। भगवान्‌की दयासे ही संसारसागरसे पार उतरा जा सकता है। भगवान्‌की दया सबपर है ही। बस, माननेभरकी देर है। उनकी दया मानकर उनके शरण हो जाना चाहिये।

आपने गलती क्षमा करनेके लिये लिखा सो हमारी समझमें तो आपकी कोई गलती नहीं है। जब गलती है ही नहीं, तब फिर क्षमा करनेकी कोई बात ही नहीं उठती। आपने लिखा कि कभी भगवत्कृपा होगी तो लिखूँगा सो ठीक है। आप जब चाहें, तब लिख सकते हैं। आपके प्रश्नोंके उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

× × × × जहाँ पूजा और मान-बड़ाईसे सम्बन्ध है वहाँ खतरा ही समझना चाहिये। गुरु बनाये बिना मुक्ति होती ही न हो, ऐसी कोई बात नहीं है। बिना गुरुके भी मुक्ति हो सकती है। आजकल अच्छे और असली गुरु मिलने बहुत ही कठिन हैं। यदि सौभाग्यवश मिल भी जायँ तो उनकी पहचान करना बड़ा ही कठिन है। सबसे उत्तम तो यही है कि भगवान्‌को परम गुरु मानकर उनका निष्कामभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जप-ध्यान और पूजा-पाठ करना चाहिये। वे स्वयं ही ज्ञान प्रदान कर सकते हैं।

यदि कोई अच्छे गुरु मिलें तो उन्हें अवश्य ही गुरु बना लेना चाहिये। महाभारतमें एकलव्य भीलकी कथा आती है। उसने द्रोणाचार्यजीको गुरु मानकर उनकी मूर्तिसे अस्त्र-शस्त्रकी विद्या प्राप्त की थी, उसी प्रकार आप भी किसी योग्य पुरुषको गुरु मानकर या बनाकर मुक्तिका साधन कर सकते हैं।

दोनों समय संध्या और गायत्री-मन्त्रका जप आपको अवश्य करना चाहिये। आप संस्कृत नहीं जानते हैं सो तो ठीक है। संध्याके तो थोड़े-से मन्त्र हैं, किसी जानकार विद्वान्‌से उच्चारण सीखकर याद कर लेने चाहिये। संस्कृत न पढ़े रहनेके कारण मामूली गलती भी हो जाय तो कोई आपत्ति नहीं है। निष्कामभावसे करनेवालोंके लिये कोई हानिकी बात नहीं है। अशुद्ध उच्चारण करनेपर हानि तो उनको होती है, जो सकामभावसे करते हैं। निष्कामभाववालोंके लिये कोई डरकी बात नहीं है। भगवान्‌के लिये हृदयमें रोना तो बहुत ही अच्छा है। भगवान्‌के सामने करुणभावसे रो-रोकर उनसे अपने उद्धारकी बात पूछनी चाहिये। इस प्रकार पूछनेसे भगवान् हृदयमें प्रेरणा कर दिया करते हैं। उसीको भगवान्‌का आदेश मानकर करना

चाहिये। नित्यकर्ममें संध्याके साथ गीता-पाठ करना बहुत अच्छा है। संस्कृतके श्लोक न पढ़ सकें तो केवल भाषा ही पढ़ सकते हैं। रामायण (रामचरितमानस) तो हिंदीमें ही है। उसके दोहे-चौपाइयोंका पाठ कर लेना चाहिये। यदि रामायणके दोहा-चौपाई भी आप न पढ़ सकें तो अर्थ ही पढ़ लेना चाहिये।

आपने चाय-दूध आदिकी दूकान कर रखी है और सबेरे पाँच बजेसे रातको बारह बजेतक दूकान खोलते हैं, सो इतने समयतक दूकान खोलना ठीक नहीं है। दूकान करनेवालोंके लिये सबसे खास बात यह है कि सबके साथ सम और सत्य व्यवहार करना चाहिये। आपके घरवाले तामसी भोजन करते हैं और नास्तिक हैं, उन लोगोंने आपको अलग कर दिया, सो इसे भगवान्‌की विशेष कृपा माननी चाहिये, जो आपको बुरे संगसे बचा लिया, नहीं तो पता नहीं, आपकी क्या दशा होती? इतना समझनेपर भी उनसे घृणा नहीं करनी चाहिये। अपनी ओरसे तो ऐसी ही चेष्टा करनी चाहिये कि जिससे उनका भी सुधार होकर उद्धार हो सके। दूकानमें काम थोड़ा ही होनेके कारण नौकर न रखकर आप स्वयं ही जूँठे गिलास आदि अपने हाथोंसे साफ करते हैं, सो बहुत ही उत्तम बात है। यह भी भगवान्‌की बड़ी कृपा है जो आपको ऐसा सेवाका काम दिया है। दूकानको भगवान्‌की दूकान समझकर एवं अपनेको उनका सेवक समझकर भगवान्‌की दूकानमें जैसा काम होना चाहिये, वैसा ही सत्य और सम व्यवहार रखना चाहिये। इस प्रकार स्वार्थ-त्यागपूर्वक करनेसे काम भी साधन ही बन सकता है। काम अधिक बढ़ानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। जितना काम है उससे जनताकी अधिकाधिक सेवा करनेकी कोशिश रखनी चाहिये।

दिनमें आपको पुस्तक पढ़नेका समय भी मिल जाता है, सो बहुत उत्तम है। उस समय गीताप्रेसकी पुस्तकें पढ़नी चाहिये। आपके भगवान् श्रीकृष्णका इष्ट है एवं भजन-कीर्तनमें रुचि है, सो अच्छी बात है। आपको—

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव॥

—इसका कीर्तन करना चाहिये। यही आपके लिये सर्वोत्तम है। आपके सिरपर ऋण है, इसकी चिन्ता रहनेके कारण भगवच्चिन्तन आप नहीं कर पाते, सो अवगत किया। चिन्ता तो नहीं करनी चाहिये; खर्च कम-से-कम करके ऋण उतारनेकी कोशिश करनी चाहिये। खर्च करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है, आयमें ही परतन्त्र है।

कीर्तन और सत्संगमें जानेका आपको समय नहीं मिलता तो इसके लिये दुःख नहीं करना चाहिये। गीताप्रेसकी तथा और भी धार्मिक पुस्तकोंका अध्ययन भी सत्संग ही है। कीर्तन आप अपनी इच्छाके अनुसार घरमें भी कर सकते हैं।

आप अष्टमीका व्रत करते हैं, सो बहुत अच्छी बात है। व्रतके दिन फल-दूध आदि जो भी लिया जाय, वह एक समय ही लिया जाय तो और भी ठीक है।

प्रभुमें प्रेमभरी भक्ति हो एवं उनकी प्राप्ति हो, इसका उपाय आपने पूछा सो बहुत अच्छी बात है। इसी इच्छाको खूब बढ़ाना चाहिये। भगवान्‌की प्राप्तिके बिना एक क्षण भी रहा न जा सके तो भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र ही हो सकती है। भगवान् तो भक्तोंसे मिलनेके लिये सर्वथा उत्सुक हैं। उनसे मिलनेकी इच्छा करनेवालोंकी ही कमी है। सबसे यथायोग्य।

✦✦

[३३]

सविनय प्रणाम। आपका पत्र मिला। आपने मेरे लिये श्रद्धेय एवं अपने लिये अकिंचन दास आदि शब्दोंका प्रयोग किया, सो इस प्रकार लिखकर मुझे संकोचमें नहीं डालना चाहिये। आप ब्राह्मण होनेके नाते हमारे लिये पूज्य हैं। मैं तो साधारण मनुष्य हूँ।

आपका परिचय मालूम हुआ। गंदे उपन्यास, नाटक तथा कहानी आदिकी पुस्तकें पढ़नेसे कोई लाभ नहीं है, बल्कि नुकसान-ही-नुकसान है; अतः ऐसी पुस्तकें कभी नहीं पढ़नी चाहिये। आप 'कल्याण' में प्रकाशित परमार्थ-पत्रावली तथा 'शिव' की बातोंको पढ़ते हैं, सो बहुत अच्छी बात है। अच्छी पुस्तकें पढ़कर सात्त्विक जीवन व्यतीत करनेकी आपकी इच्छा है, सो बहुत ही उत्तम है। इसके लिये तत्त्व-चिन्तामणि, गीता-तत्त्वविवेचनी तथा और भी गीताप्रेससे प्रकाशित भक्त गाथाओंकी पुस्तकें पढ़नी चाहिये एवं उनमें लिखी बातोंके अनुसार जीवन बनानेकी कोशिश करनी चाहिये।

आपने मनको वशमें न कर सकनेकी बात लिखी, सो ठीक है। 'मनको वशमें करनेके उपाय' नामक एक छोटी-सी पुस्तक भी गीताप्रेससे प्रकाशित है। उसे मँगाकर पढ़ना चाहिये और उसमेंसे जो साधन आपको रुचिकर हो, उसे करना चाहिये। उससे आपको लाभ हो सकता है। आपको अपने मनकी प्रेरणाके अनुसार नहीं चलना चाहिये, अपनी बुद्धिसे काम लेना चाहिये।

मन लोभी, मन लालची, मन चंचल, मन चोर।
मनके मते न चालिये पलक पलक मन और॥

मनकी प्रेरणा तो पतन करनेवाली है। मनको वशमें करनेके लिये गीता अध्याय ६ श्लोक ३५ और ३६ की तत्त्वविवेचनी टीका पढ़कर उसके अनुसार अभ्यास और वैराग्यका साधन

करना चाहिये। साधनके समय मन उपद्रव करता है, ध्यान नहीं करने देता, सो अवगत किया। जहाँ-जहाँ भी मन जाय, वहाँ-वहाँसे हटाकर बारम्बार उसको भगवान्‌के ध्यानमें लगाना चाहिये (गीता ६। २६ देखें)। दूसरा उपाय यह भी है कि मन जहाँ भी जाय, वहाँ भगवान्‌का ही दर्शन करना चाहिये। संसारमें आसक्ति और प्रेम होनेके कारण ही संसारमें मन जाता है। अतः संसारको दुःखरूप क्षणभंगुर अनित्य समझकर उससे वैराग्य एवं भगवान्‌से प्रेम करना चाहिये। अभ्यास और वैराग्य ही मनको वशमें करनेके उपाय हैं। इस प्रकार करनेसे भगवान्‌के ध्यानमें मन लग सकता है। यह जो आप समझते हैं कि मनको वशमें किये बिना काम-क्रोध-मद-लोभको जीतना सम्भव नहीं, सो ठीक है। भगवान्‌की शरण लेनेसे ये सभी जीते जा सकते हैं। अनिच्छा या परेच्छासे जो भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त हो उसे भगवान्‌का मंगलमय विधान मानना चाहिये और किसी भी बातकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। यह शरणका ही एक प्रधान अंग है।

धीरे-धीरे मन दुष्कर्मोंको छोड़ दे इसके लिये आपने किये जानेवाले दुर्गुणोंको डायरीमें नोट करना शुरू कर दिया, सो ठीक है। जो दुर्गुण आपकी शक्ति और सामर्थ्यसे समाप्त न हो सकें उनके लिये रो-रोकर करुणभावसे भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये। उनकी कृपासे सब कुछ हो सकता है! मन वशमें हो एवं भगवान्‌में ध्यान लगे, इसके लिये भी भगवान्‌से स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। चोरी-व्यभिचार आप नहीं करते, सो अच्छी बात है। पर मन उनका चिन्तन करता है, यह ठीक नहीं है। भगवान्‌का चिन्तन करना चाहिये, फिर सब दुर्गुण अपने-आप ही छूट सकते हैं। आपको गीता अध्याय ६ श्लोक २४, २५, २६ के अनुसार साधन करना चाहिये।

प्रत्येक पत्रका उत्तर देनेकी हमारी चेष्टा रहती है, अतः कोई बात पूछनी हो तो संकोच नहीं करना चाहिये। हमारे पास पत्र बहुत आते हैं। अतः विस्तृत पत्रोंका उत्तर देनेमें विलम्ब हो जाया करता है। इसलिये सार-सार बातें ही पूछनी चाहिये। सबसे यथायोग्य।

✦✦

[३४]

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपकी शंकाओंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

१—आपने अपनेमें क्रोध आने तथा उससे होनेवाले परिणामकी बात लिखी, सो मालूम की। क्रोध न आवे, इसके लिये ये उपाय हैं—

(क) अनिच्छा या परेच्छासे अपने मनके प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होनेपर ही प्रायः क्रोध आया करता है, इसलिये जो कुछ भी आकर प्राप्त हो, उसे भगवान्‌का मंगलमय विधान समझ लेना चाहिये।

(२) जिसपर क्रोध आवे, उसमें भगवद्बुद्धि कर लेनी चाहिये। इस प्रकार करनेसे भी क्रोध नहीं आ सकता।

क्रोध शान्त होनेपर हृदयमें शोक और पश्चात्ताप होता है, सो अच्छी बात है। जिसपर क्रोध आवे, उससे क्षमा-प्रार्थना करना भी बहुत उत्तम है। भविष्यके लिये किसी भी प्राणीपर क्रोध न करनेका भी दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये। इस प्रकार करनेसे धीरे-धीरे क्रोध आनेका स्वभाव बदल सकता है।

२—भगवान्‌का भजन सूर्योदयके पूर्व और सूर्यास्तके पूर्व प्रतिदिन नियमितरूपसे अवश्य करना चाहिये। चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते हर समय ही भगवान्‌का स्मरण रखना चाहिये। रातको शयन करते समय भगवान्‌के नाम, रूप, गुण,

प्रभावको याद करते हुए ही सोना चाहिये इस प्रकार करनेसे शयनकाल भी साधनकाल ही हो सकता है।

सुबह-शाम भजन करनेसे पूर्व स्नान करना और कपड़े बदलना अच्छा है। सुबह तो अवश्य ही स्नान करना चाहिये। शामको हाथ-पैर-मुँह धोकर भी भजन साधन किया जा सकता है। केवल शुद्धिकी दृष्टिसे ही नहीं, स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी शरीरके लिये यह बहुत ही लाभदायक है। भगवान्‌की आराधना हर अवस्था एवं हर परिस्थितिमें की जा सकती है, यह भी मानना ठीक है।

३—संसारके बुरे वातावरणसे घृणा होना तो अच्छा ही है, किंतु संसारके मनुष्योंसे घृणा करना या उनमें दोष-बुद्धि करना अच्छा नहीं है। अपनेको बुरे संसर्गसे बचाना चाहिये। संसारमें रहकर संसारमें आसक्त नहीं होना चाहिये। आसक्तिका अभाव करना चाहिये। दूसरे, जो आपके भाई हैं उनमें घृणा या द्वेषबुद्धि करनेसे आपको और उनको क्या लाभ हुआ? जिनमें आपको बुराइयाँ प्रतीत होती हैं, वे भी आपके भाई ही तो हैं, उन लोगोंका सुधार हो, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये। जैसे अपने घरमें कोई प्लेग या हैजेका रोगी होता है, तो उसके इलाजके लिये हम या तो वैद्य-डॉक्टरोंको घरपर बुलाते हैं या रोगीको वैद्य-डॉक्टरोंके पास ले जाते हैं और वह ठीक हो जाय, इसके लिये उपाय करते हैं। उसी प्रकार संसारमें फँसे हुए लोगोंके उद्धारकी कोशिश करनी चाहिये। इनके लिये वैद्य-डॉक्टर हैं—महापुरुष। उन लोगोंको या तो सत्संगमें ले जाना चाहिये अथवा महापुरुषोंसे प्रार्थना करके उनको उन लोगोंके पास ले जाकर भेंट करा देनी चाहिये। उन भाइयोंसे घृणा करनेमें तो नुकसान-ही नुकसान है।

धार्मिक पुस्तकोंके पढ़नेमें आपका मन लगता है, यह भगवान्‌की विशेष कृपा है। गीताप्रेसकी पुस्तकें प्रायः सभी धार्मिक ही हैं, उनका अध्ययन करना चाहिये।

आपने पूछा कि 'किस-किसको झूठ बोलकर या दम्भसे खुश करूँ?' सो ठीक है। किसीको भी दम्भ करके या झूठ बोलकर खुश करनेकी आवश्यकता नहीं है। सबको न्याययुक्त चेष्टासे एवं नम्रतापूर्वक व्यवहार करके ही खुश करनेकी कोशिश करनी चाहिये। झूठ बोलना और दम्भ करना तो बड़ा भारी पाप है।

आपके घरवाले आपको वर्तमानमें कही जानेवाली भोगसामग्रीयुक्त उन्नतिमें देखना चाहते हैं, किंतु आपको सादगीसे प्रेम है। सो भीतरमें तो सादगी ही रखनी चाहिये; परंतु अपनी इच्छा किसीके सामने प्रकट नहीं करनी चाहिये।

आपके गुमाश्ते आपको धोखा देकर धन लूटना चाहते हैं तो उनसे आपको खूब सावधान रहना चाहिये। आपको प्रारब्धपर विश्वास है यानी आपको जो मिलता है वह तो मिलकर रहेगा ही, इसपर विश्वास है—यह आपकी मान्यता बहुत ठीक है; किंतु जो आपको प्राप्त है उसकी रक्षा करना भी तो आपका कर्तव्य है। कोई मनुष्य आपको धोखा दे तो उससे बचना ही चाहिये।

आप कल्याणके ग्राहक हैं सो अच्छी बात है। औरोंको भी ग्राहक बनाना चाहिये। सबसे यथायोग्य।

[३५]

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र यथासमय मिला। समाचार विदित हुए। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

(१) आपको जो इस बातपर शंका होती है कि श्रीराम और श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म परमेश्वरके ही अवतार थे या नहीं, सो इस शंकाके नाशका एकमात्र उपाय श्रद्धा-विश्वास है; क्योंकि इस बातको कोई भी मनुष्य अपनी तुच्छ बुद्धिद्वारा न तो समझ सकता है और न समझा ही सकता है। जो बात मन, वाणी और

बुद्धिका विषय ही नहीं है, वह सांसारिक उदाहरणोंसे तर्कद्वारा कैसे सिद्ध की जा सकती है। हाँ, यदि कोई मनुष्य सत्-शास्त्रों और सत्पुरुषोंकी वाणीपर श्रद्धा-विश्वास करके मान लेता है तो भगवान्‌की कृपासे उसकी समझमें भी आ जाता है।

'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।'

(रामचरित०, अयोध्या० १२६। २)

(२) आपने लिखा कि ऐसा पता चलता है कि श्रीराम और श्रीकृष्ण महापुरुष थे, साक्षात् ईश्वर नहीं; तो यह पता भी आपको किसीकी बात मान लेनेसे ही चला होगा। नहीं तो, आप ही बताइये कि श्रीराम और श्रीकृष्ण कोई ऐतिहासिक महापुरुष हुए थे या नहीं; इसका ही क्या प्रमाण है? जिन ग्रन्थोंमें उनके चरित्रोंका वर्णन है, उनको यदि कपोलकल्पित मान लिया जाय तो फिर उनको महापुरुष मानकर उनका अस्तित्व माननेके लिये भी तो कोई आधार नहीं रह जाता। ऐसा कोई भी प्राचीन आर्ष ग्रन्थ नहीं है, जिसमें उनके चरित्रका तो वर्णन हो और उनको ईश्वरका अवतार न माना हो। इस परिस्थितिमें 'ईश्वर मनुष्यरूपमें अवतार लेते हैं' यह बात पूर्ण सत्य नहीं है, आपका यह कहना एक साहसमात्र नहीं तो क्या है, जिसके लिये यह कहा जा सके कि वह अमुक काम नहीं कर सकता, वह ईश्वर ही कैसा?

(३) आपने महात्मा गांधीके कथनको उद्धृत किया सो उनका कहना किस अभिप्रायसे है, यह समझना कठिन है। साथ ही वे यह भी स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि मुझे अभी सत्यकी उपलब्धि नहीं हुई है, मैं उसकी खोजमें हूँ। इस परिस्थितिमें हम केवल उनकी ही बात मानें, तुलसीदासजी-जैसे संतोंकी बात न मानें, जिनको स्वयं गांधीजीने बड़े आदरके साथ माना है—यह कहाँतक उचित है, आप विचार करें।

(४) कबीरपंथी कबीरजीको साक्षात् परब्रह्म मानते हैं, यह तो उनकी श्रद्धाकी बात है; पर स्वयं कबीरजीने तो अपनी वाणीमें यह बात कहीं नहीं कही कि मैं ईश्वर हूँ, तुम मेरी पूजा करो इत्यादि।

(५) आपने लिखा कि इसी प्रकार सनातनधर्ममें राम-कृष्णको ईश्वर और साक्षात् ब्रह्म मान लिया जाता है,पर ऐसी बात होती तो उस धर्मका नाम ही सनातन नहीं होता। सनातन उसे कहते हैं, जो अनादि हो, सदासे हो, अन्य मत-मतान्तरोंकी भाँति मनुष्यका चलाया हुआ न हो। फिर आपने श्रीराम और श्रीकृष्णको ईश्वर न मानकर महापुरुष किस आधारपर मान लिया, यह समझमें नहीं आया।

(६) श्रीगांधीजीने जो यह लिखा कि मेरा राम दशरथनन्दन होते हुए भी साक्षात् ब्रह्म है, इसका भावार्थ आपने मनकी बातको पुष्ट करनेके लिये जो लगाया, वह ठीक नहीं। अर्थ जो उनकी मान्यतामें है, वही उनकी दृष्टिसे ठीक है।

कोई यदि यह कहे कि गीताकी कथामें वर्णित घटना सच्ची घटना नहीं है, उपदेशके लिये लिखी गयी है तो यह भी मानना पड़ेगा कि उसमें जो उपदेश भगवान् श्रीकृष्णने दिया है, वह भी श्रीकृष्णकी वाणी नहीं है, किसी कविकी कल्पनामात्र है और वह कवि मिथ्यावादी है। इस परिस्थितिमें गीताके उपदेशका क्या महत्त्व रह जाता है, इसपर आप गम्भीरतासे विचार करें। क्या आप श्रीशंकराचार्यजीको भी मिथ्यावादी मानेंगे, जिन्होंने अपने भाष्यकी भूमिकामें स्पष्ट लिखा है कि जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और रक्षा करनेवाले स्वयं परमेश्वरने श्रीकृष्णरूपमें प्रकट होकर गीताका उपदेश अर्जुनको दिया और सर्वज्ञ भगवान् वेदव्यासजीने उस उपदेशको ज्यों-का-त्यों ७०० श्लोकोंमें छन्दोबद्ध करके लोगोंके सामने रखा है।

(७) आपने लिखा कि पुराणोंकी कथाओंमें मुझे कोई ऐतिहासिक सत्य नहीं दिखायी पड़ता, सो हमलोगोंकी दृष्टि ही इतनी निर्मल और तीक्ष्ण कहाँ है, जिसके द्वारा हम पुराणोंकी कथाका रहस्य ठीक-ठीक समझ सकें। यह हो सकता है कि किसी तत्त्वको समझानेके लिये उसका वर्णन कथाके रूपमें किया गया हो। पर साथ ही यह बात भी है कि वह ऐतिहासिक घटना भी हो सकती है। पुराणोंकी कथाएँ बहुत ही प्राचीन हैं, स्मरणशक्तिके परिवर्तनसे उनमें हेर-फेर हुआ हो तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; पर उनको कपोलकल्पित मानना तो सर्वथा अनुचित है।

(८) आपने इस विषयमें मेरे विचार प्रकट करनेके लिये लिखा, सो मेरी मान्यताके अनुसार भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म परमेश्वरके ही अवतार थे (गीता ४। ६ और १०। १२ में देखें)। उनके चरित्रोंकी कथाएँ जो ऋषिप्रणीत आर्ष ग्रन्थोंमें हैं, सर्वथा सत्य हैं, कपोलकल्पित नहीं हैं। यदि कहीं उन कथाओंका भाव ठीक समझमें न आये, कोई बात धर्मके प्रतिकूल प्रतीत होती हो तो मैं यह मानकर उसे छोड़ देता हूँ कि यह बात मेरी समझमें नहीं आयी, इसका आशय कोई दूसरा होगा। शास्त्र तो समुद्र है, उसका समस्त जल किसी घड़ेमें कैसे भरा जा सकता है?

पुराणोंकी कथाओंके विषयमें भी ऐसी ही बात है, वे कपोलकल्पित नहीं हैं। अधिकांश कथाएँ वैदिक ब्राह्मण-ग्रन्थोंसे और वेदकी विभिन्न शाखाओंसे ही ली गयी हैं। पर सब जगह उनका आशय ठीक समझमें नहीं आता—यह मैं अपनी कमजोरी मानता हूँ; क्योंकि मैं सर्वज्ञ नहीं हूँ। ग्रन्थोंको मिथ्या या कपोलकल्पित मानना तो मैं अपने लिये सर्वथा ही अनुचित समझता हूँ।

(९) वोटमें तो वही बात कहनी चाहिये, जो सत्य हो; पर जिसका निर्णय नहीं हो सके, वहाँ यही कहना सत्य है कि मैं अभी इसका निर्णय नहीं कर सका, खोज कर रहा हूँ। यदि यह कहें कि राम-कृष्ण अवतार नहीं थे तो यह भी सत्य नहीं; क्योंकि आप त्रिकालज्ञ और सर्वज्ञ नहीं हैं। यदि यह कहें कि अवतार है तो यह इसलिये सत्य नहीं कि आपको स्वयं विश्वास नहीं।

(१०) रुपये उधार उस व्यक्तिको कदापि नहीं देने चाहिये जो उनका दुरुपयोग करता हो। उसे न देना कोई शत्रुता नहीं है। यदि उसको दु:ख या क्रोध होता है तो यह उसकी बेसमझी है। अत: इससे डरना नहीं चाहिये। साफ-साफ कह देना चाहिये कि आपको उधार देनेकी हमारी इच्छा नहीं है।

◆◆

[३६]

सादर हरिस्मरण और प्रणाम। आपका पत्र मिला, समाचार ज्ञात हुए। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमश: इस प्रकार है—

(१) '**अवश्यमेव भोक्तव्यम्**' यह उक्ति किये हुए कर्मोंका फल भोगनेके विषयमें है, न कि नवीन कर्मोंके विषयमें। पशुवध तो नया कर्म है। अत: उसमें दोष बताना उचित ही है; क्योंकि वह कर्म हिंसामय है।

बिना इच्छाके भी स्पर्श किया हुआ अग्नि शरीरको जला देता है, उसी प्रकार नाम भी संचित पापोंको जला देता है—इतना ही सम्बन्ध है। प्रारब्धभोगके विषयमें यह बात लागू नहीं है, जैसे अग्नि भी जलसे भीगे हुए घास आदिको स्पर्शमात्रसे नहीं जला सकता।

(२) **भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥**

(रामचरित०, बाल० २८। १)

—यह कथन नामका स्वाभाविक माहात्म्य बताता है और 'बिना भाव रीझे नहीं' यह भावयुक्त भजनकी विशेष महिमाका वर्णन है। अतः कोई विरोध नहीं है। जैसे सूर्यका प्रकाश समान-भावसे सबको प्रकाशित करता है, पर सूर्यमुखी काँचमें सूर्यकी विशेष शक्तिका प्राकट्य हो जाता है।

(३) वृक्ष आदिके छेदनमें दोष नहीं है—ऐसी बात नहीं है; पर उनको सुख-दुःखका ज्ञान कम होता है। वे जड हैं। इसलिये उनके छेदन आदिमें हिंसा यानी पाप कम माना गया है। हिंसाका निर्णय करना इतनी सीधी बात नहीं है, जिसको पत्रद्वारा समझाया जा सके। साधारणतया यह सिद्धान्त माना जा सकता है कि जिसकी हिंसा की जाय, उसमें यदि उसका हित हो तो वह दोष-युक्त नहीं है।

(४) '**संशयात्मा विनश्यति**' (गीता ४।४०) के साथ दो विशेषण और भी हैं। जो संशयात्मा अज्ञ यानी विवेकहीन और अश्रद्दधान यानी श्रद्धाहीन होता है उसका नाश—पतन हो जाता है। जो विवेकी होता है उसका संशय तो विवेकद्वारा वस्तुका बोध होनेपर नष्ट हो जाता है और जो श्रद्धालु होता है उसका संशय शास्त्र और संतकी वाणीपर श्रद्धा करके उनकी बात मान लेनेसे नष्ट हो जाता है; इसलिये वह संशयात्मा नहीं रहता। पर जो विवेक न होनेके कारण स्वयं कोई निश्चय नहीं कर पाता और श्रद्धा न होनेके कारण दूसरेकी बात मानता नहीं, उसका संशय नाश होनेका कोई उपाय नहीं रहता; इसलिये वह नष्ट हो जाता है अर्थात् श्रेयमार्गसे गिर जाता है—यही इसका भाव है। अतः संशयकी गणना सोलह तत्त्वोंमें हो तो कोई विरोध नहीं है। इस प्रकारका संशय तो अर्जुनमें भी था; पर उससे अर्जुनकी कोई हानि नहीं हुई, संशयका ही नाश हो गया।

(५) जीव ईश्वरका अंश है—यह होते हुए भी ईश्वर अनन्त और अखण्ड है। इसमें यह कारण है कि जैसे किसी स्थूल पदार्थके एक खण्डको उसका अंश कहा जाता है, ऐसा अंशांशिभाव जीव ईश्वरका नहीं है। ईश्वर अत्यन्त सूक्ष्म है, उसके खण्ड नहीं हो सकते—जैसे आकाशके टुकड़े नहीं किये जा सकते। आकाशका सम्बन्ध तो देशविशेषसे दिखायी देता है, इसलिये उसमें उपाधिके कारण अंशांशिभावकी कल्पना की जा सकती है; पर ईश्वर तो देश-कालसे भी अतीत है। फिर भी समझनेके लिये घटाकाश और महाकाशकी भाँति जीव और ईश्वरका अंशांशिभाव माना जा सकता है। जीवात्मा ईश्वरकी ही चेतन परा प्रकृति है। (गीता ७।५) अर्थात् उसका स्वभाव है (गीता ८।३), अतः ईश्वरका ही अंश है; उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु जीवात्मा नहीं है। ईश्वर और जीवके स्वरूप और सम्बन्धका जो तत्त्व है, वह मन-बुद्धि और वाणीका विषय नहीं है; अतः उसे कैसे समझाया जाय। यह तो भगवान्‌की कृपासे ही समझमें आ सकता है, पहले तो विश्वासपूर्वक मानना ही पड़ता है; क्योंकि वैसा कोई उदाहरण नहीं है, जिसके द्वारा ईश्वर और जीवके स्वरूप और सम्बन्धको समझाया जा सके।

✦✦

[३७]

सादर प्रणाम। आपका पत्र समयपर मिल गया था, परंतु पत्र बड़ा होनेके कारण और समय कम मिलनेके कारण उत्तर देनेमें विलम्ब हुआ। आपने अपनी आयु तथा परिस्थिति लिखी सो ज्ञात हुई। आपने जो-जो बातें पूछी हैं, उनका उत्तर क्रमसे लिखा जाता है।

आपको यदि इस बातकी चिन्ता है कि मृत्यु निकट है तो अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये तो

एक क्षण भी काफी है। भगवान्‌के लिये बहुत समयतक साधन करनेकी आवश्यकता नहीं, उन्हें तो श्रद्धा और प्रेम चाहिये; वह जिस क्षण पूर्ण हो जायगा, उसी क्षण भगवान् प्रत्यक्ष हो जायँगे।

मान और अपमानको समान समझ लेनेपर अथवा भगवान्‌का विधान या कर्मोंका फल समझ लेनेपर राग-द्वेष और अपमानजनित सभी दुःखोंसे छुटकारा मिल सकता है।

छोटे लड़केमें स्नेह होना स्वाभाविक-सा हो रहा है, लिखा सो यह मोहजाल है; आसक्ति न छोटेमें ही होनी अच्छी है और न बड़ेमें ही। स्नेह तो एकमात्र भगवान्‌में ही होना चाहिये। धन, परिवार और पुत्र-पौत्र आदिका स्नेह तो दुःखका ही कारण है।

दुःख-सुखके भोग ही भगवान्‌के विधानसे होते हैं; पापकर्म तो मनुष्य आसक्तिवश करता है, वह भगवान्‌का विधान नहीं है।

सच्चा वैष्णव तो वही है, जो भगवान् विष्णुका प्रेमी भक्त है। उसकी ही महिमा शास्त्रोंमें गायी गयी है। आपने मन्त्र लिया, यह तो ठीक है; परंतु अब भगवान्‌में अनन्य प्रेम करना चाहिये। सब जगहसे प्रेम हटाकर केवल भगवान्‌का सच्चा भक्त और सच्चा वैष्णव बनना चाहिये।

भगवान्‌के नाम-जपपर दृढ़ता अवश्य रखनी चाहिये। नाम-जप श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निरन्तर होता रहे, इसके लिये विशेष सावधान रहना चाहिये। नाम-जप बहुत ही उत्तम साधन है। मन तो एक ही है, परंतु इसकी शाखाएँ बहुत हैं; यह बड़ा चंचल है, एक ही क्षणमें अनेक विषयोंका चिन्तन कर लेता है। इसे सांसारिक चिन्तनसे हटाकर भगवान्‌के गुण, प्रभाव और स्वरूपके चिन्तनमें लगाना चाहिये।

यह मन भोगोंमें आसक्ति होनेके कारण ही उनकी ओर दौड़ता है। अतः भोगोंको अनित्य और दुःखरूप समझकर उधरसे

प्रेम हटाना चाहिये और भगवान्‌में प्रेमपूर्वक मनको लगाना चाहिये। यही इसकी शान्तिका उत्तम उपाय शास्त्रोंमें पाया जाता है।

भगवान्‌की भक्ति यदि निष्काम न हो सके तो सकाम भी अच्छी है। भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम बढ़नेपर निष्कामभाव अपने-आप ही आ सकता है।

तीर्थ, सत्संग और भगवान्‌के विषयके संकल्प करना अच्छा ही है। भोगोंकी बुराई जानते हुए भी जो मन उनमें लिप्त रहता है, इसका कारण जन्म-जन्मान्तरमें सुखबुद्धिसे आसक्तिपूर्वक भोगोंको भोगनेका अभ्यास है और यह मोहजाल अच्छे अभ्याससे ही टूट सकता है, नाम-जप इसके लिये बहुत अच्छा उपाय है। भगवान् किसीको भी पतित समझकर नहीं छोड़ते, हमलोग ही भगवान्‌को छोड़ देते हैं।

गंगारज आप ऋषिकेश या हरिद्वारमें किसीको लिखकर मँगवा सकते हैं। यहाँ तो गंगा नहीं हैं।

स्वास्थ्यकी दृष्टिसे चाय पीना न भी छूटे तो कोई हर्ज नहीं; पर उसमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये।

[३८]

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार विदित हुए। आपको मेरे पत्रद्वारा शान्ति मिली, इसमें प्रभुकी कृपा ही समझनी चाहिये।

अशान्तिका कारण धनका अभाव नहीं है। धनकी कामना एवं उसमें महत्त्वबुद्धि ही अशान्तिका कारण है; अतः धनसे जो सुख मिला हुआ प्रतीत होता है, उसका त्याग करके धनकी कामनासे रहित हो जानेपर धनका अभाव दुःखदायक नहीं हो सकता। जो कुछ भी अनायास प्राप्त हो, उसीमें संतोष करना ही शान्तिका उपाय है।

पतिदेवके साथ मतभेद तो आपको रखना ही नहीं चाहिये। उनके मनकी धर्मानुकूल इच्छाको पूरी कर देना ही स्त्रीका मुख्य धर्म है, अतः आपको उनकी इच्छामें अपनी इच्छा मिला देना चाहिये। अपना कोई स्वतन्त्र मत नहीं रखना चाहिये। अपने कर्तव्यपालनद्वारा उनकी सेवा करते रहना चाहिये।

आपके पतिदेवका यह कहना बहुत ही उचित है कि जब सुविधा हो तब व्रत-त्योहार या उत्सव मनाना चाहिये। किंतु इन सबका पतिसेवाकी तुलनामें कोई विशेष महत्त्व नहीं है। अतः इस मतभेदके कारण जो अशान्ति रहती है, इसमें तो आपकी स्पष्ट ही भूल है; इसका सुधार कर लेना चाहिये।

स्त्रीके लिये तो पति ही सर्वोत्तम गुरु है। पतिसे बढ़कर कोई गुरु नहीं है। श्रीविष्णुभगवान्‌की पूजा और एकादशीका व्रत इन दोनोंमें तो कोई द्रव्यका खर्च है नहीं। अतः आपके पतिदेवका भी इनके करनेमें अनुमानतः कोई विरोध नहीं होगा। यह ध्यान आपको अवश्य रखना चाहिये कि उनकी सेवामें कमी न आये।

अपने पतिके दोषोंको देखना आपका काम नहीं है । किसी समय वे परामर्शके रूपमें पूछें तो जो बात उनके लिये हितकर हो कह सकती हैं। पर कहना चाहिये बड़ी ही नम्रता और विनयके साथ। उसपर वे न मानें तो अपने मनमें किसी प्रकारका दुःख नहीं मानना चाहिये। प्रत्येक व्यवहारमें उनका आदर रहना चाहिये। हृदयमें उनके प्रति प्रेम रहना चाहिये। उनके अवगुणोंको देखकर उनमें तुच्छभाव करना और अपनेमें अच्छेपनका अभिमान करना बहुत बुरा है।

आप पवित्रतासे बनाया हुआ प्रसाद पाती हैं, यह तो अच्छी बात है। पर इसके लिये दूसरोंको कष्ट नहीं देना चाहिये एवं अपनेमें इस गुणका अभिमान करके दूसरोंको तुच्छबुद्धिसे नहीं

देखना चाहिये। सम्भव है ऐसा करनेसे आपके पतिदेव रुष्ट नहीं होंगे।

आप अपनी गलतियोंका सुधार कर लें तो शान्ति अवश्य मिल सकती है। अशान्तिका कारण दूसरा कोई नहीं होता—यह निश्चित सिद्धान्त है।

आपने अपनी दिनचर्या लिखी सो ठीक है; जप, पूजा, पाठ आदि करते समय अपने इष्टकी स्मृति अवश्य रखनी चाहिये। घरके कामको, पतिकी सेवाको और शारीरिक क्रियाको—सबको भगवान्का ही काम समझकर उनकी प्रसन्नताके लिये ही करना चाहिये।

प्रभु सब कुछ सुनते हैं, उनसे कोई बात छिपी नहीं है—यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिये। वे जो कुछ विधान करते हैं, ठीक करते हैं। उसीमें सबका हित है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

आपके अन्य प्रश्नोंके उत्तर क्रमशः इस प्रकार हैं—

१-प्रातः उठते ही जो दैनिक पानी पिया जाता है, वह व्रतके दिन भी पीनेमें कोई अड़चन नहीं है।

२-जो केला, कद्दू खाना छोड़ देते हैं, यह उनके लिये उचित ही होगा। छोड़नेमें कोई हानि तो होती ही नहीं। पर यह सबके लिये ही उचित हो, ऐसी बात भी नहीं है एवं छोड़ देनेमें कोई बड़ा भारी महत्त्व भी नहीं है।

३-डालडा (वेजिटेबल)-की बनी हुई वस्तु भगवान्के भोग न लगायी जाय तो अच्छा ही है।

४-पतिकी इच्छाकी पूर्तिके लिये उनकी विलासिताके भावको पूर्ण करे, किंतु स्वयं उसके सुखका भोग न करे तो इसमें हरिभजनमें कोई बाधा नहीं आ सकती। × × ×।

✦✦

[३९]

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार ज्ञात हुए। मैंने जो आपसे यह निवेदन किया था कि कौन सिद्ध पुरुष है—मैं नहीं जानता, इसका यह अभिप्राय नहीं था कि जगत्‌में कोई सिद्ध महापुरुष हैं ही नहीं। मेरा अभिप्राय तो इस विषयमें अपनी कमजोरी प्रकट करनेका था, क्योंकि मैं किसीकी पहचान करनेमें समर्थ नहीं हूँ। हो सकता है कि मैं जिनको सिद्ध महापुरुष नहीं मानता, उन्हींमेंसे कोई सच्चा सिद्ध महापुरुष हो या जिनको मैं सिद्ध महापुरुष मान लूँ, वे वास्तवमें वैसे न हों। इसके अतिरिक्त मेरा परिचय ही बहुत कम लोगोंसे है। अतः आपको निराश नहीं होना चाहिये। आपको यदि अच्छे महात्मासे मिलनेकी सच्ची लगन होगी तो कोई-न-कोई मिल ही सकते हैं।

× × × ×

आपका कार्य चालू है और मिनट-मिनट विभाजित है, यह अच्छी बात है। समय और अपनी शक्तिका सदुपयोग ही सर्वोत्तम साधन है।

आपके द्वारा अनुष्ठित साधन गलत होगा, ऐसा संदेह अपने साधनके प्रति क्यों होना चाहिये? जिस साधनमें साधककी रुचि हो, जिसपर श्रद्धा हो और जो अनायास ही किया जा सके, वही उसके लिये उपयोगी है।

बातचीत होनेपर यदि आप मुझे अपनी परिस्थितिसे परिचित करा सकेंगे तो मेरा अपनी समझके अनुरूप आपको सलाह देनेका विचार है।

किसी दिव्य विभूति और सिद्धिसम्पन्न व्यक्तिका दर्शन होनेपर सूचना देनेके लिये लिखा, सो इसके लिये मैं लाचार हूँ; क्योंकि मैं किसीको अच्छी तरह पहचान सकूँ, ऐसा नहीं मानता।

[४०]

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। समाचार ज्ञात हुए। आपके प्रश्नोंके उत्तर क्रमसे इस प्रकार हैं—

(१) आपने जो सतत भगवान्‌का भजन करनेवाले और चौबीसों घंटे जप करनेवाले महात्माओंको देखा, सो बड़े सौभाग्यकी बात है। ऐसे महात्माओंका होना जगत्‌के लिये बड़ा हितकर है; परंतु यह पता लगना बड़ा ही कठिन है कि मनमें भजन भगवान्‌का होता है या नहीं। यह भी तो हो सकता कि ऊपरसे तो भजन और जप करते है पर मन दूसरा काम करता हो।

जमीनमें गड्ढा खोदकर ऊपरसे सीमेंट लगाकर समाधि लगानेवाले भी किसमें समाधि लगाते हैं, इसका पता नहीं। इस प्रकारकी समाधि दिखानेवालोंको भगवत्प्राप्तिसे प्रायः सम्बन्ध सम्भव नहीं है।

भगवान्‌को प्राप्त हुए महापुरुषोंके लक्षण गीतामें दूसरे अध्यायके ५५ वेंसे ५८ वें श्लोकतक, बारहवें अध्यायके १३वेंसे १९ वें श्लोकतक एवं चौदहवें अध्यायके २२ वेंसे २५वें श्लोकतक देखिये। इसके सिवा, पाँचवें अध्यायमें भी कितने ही श्लोक हैं तथा दूसरे-दूसरे अध्यायोंमें भी हैं, वहाँ भी देखना चाहिये।

(२) भगवान्‌के भक्तोंकी रुचि भिन्न-भिन्न होती है, उनकी रुचिके अनुसार भगवान् भी रूप धारण करते हैं। तामसी प्रकृति और रुचिवाले मनुष्योंको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये भगवान् भूतनाथ शिवने अपना वैसा ही स्वरूप बनाया है। अन्यथा वैसी प्रकृतिवाले लोग किसकी उपासना करते? भगवान् परम दयालु हैं, इसलिये वे सभी मनुष्योंको अपनी ओर लगानेकी सुविधा प्रदान करते हैं।

(३) कश्यपजी ऋषि थे, पर वे प्रजापति थे। अतः उनकी अनेक पत्नियाँ थीं। प्रजाकी वृद्धि करना ही उनका काम था।

रावणकी माता राक्षसी थी, इस कारण उसके उदरसे रावण आदि राक्षस उत्पन्न हुए, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। रावणको पूर्वजन्ममें शाप भी हुआ था, इस कारण उसको राक्षसकी योनिमें आना पड़ा।

(४) अपने साथ कोई अत्याचार या बलात्कार करे तो भी साधकको तो क्षमा ही करना चाहिये, उसका बदला लेने या क्रोध करनेमें कोई लाभ नहीं है; क्योंकि बदला लेनेकी भावनासे और क्रोध करनेसे न तो अत्याचारीका सुधार होता है और न क्रोध करनेवालेको ही कोई लाभ है। क्षमा करनेसे क्षमा करनेवालेको तो पूरा लाभ होगा ही; इसके अतिरिक्त अपराधीके हृदयका भी परिवर्तन हो सकता है।

(५) शरीरको कष्ट पहुँचानेवाले प्राणी जैसे चींटी, खटमल, मच्छर आदि हैं, उनका प्रतीकार इस प्रकार किया जा सकता है जिसमें अपने शरीरकी भी रक्षा हो जाय और उनको भी किसी प्रकारका कष्ट न पहुँचे। चींटियोंको तो अन्यत्र उनके खानेकी वस्तु रखकर हटाया जा सकता है। मच्छरोंसे रक्षाके लिये मच्छरदानी लगायी जा सकती है। खटमल उत्पन्न होनेसे पहले सफाई रखकर और यदि उत्पन्न हो जायँ तो सावधानीके साथ उनको अन्यत्र सुरक्षित स्थानमें हटाया जा सकता है।

इसी प्रकार खेतीमें नुकसान पहुँचानेवाले जानवरोंका प्रतीकार भी उनको कष्ट दिये बिना हो सके तो करना चाहिये। नहीं तो, यह समझना चाहिये कि सभी वस्तुएँ भगवान्‌की हैं और प्राणी भी सब उनके हैं, जो वस्तु जिसको मिलनेवाली होती है उसको

मिलती है; अतः उन जीवोंकी हिंसा न करना ही साधकके लिये हितकर मालूम होता है।

(६) गंगाको भगवान्‌का चरणोदक भी माना जाता है, पर साथ ही उनकी उत्पत्ति भगवान् शंकरकी जटामेंसे हुई है—यह भी तो माना जाता है। भगवान् विष्णु भगवान् शंकरको पूज्य मानते हैं, इस दृष्टिसे भगवान् विष्णु और श्रीशालग्रामजीको गंगाजलमें स्नान कराया जाना अनुचित नहीं है।

(७) एकादशी भगवत्सम्बन्धी व्रतका दिन है। अतः उस दिन मरनेवालेके हृदयमें भगवान्‌के उत्सवके कारण भगवान्‌की स्मृति रहनेसे उसकी मुक्ति हो सकती है। इसलिये उस दिन मरना श्रेष्ठ माना जाना ठीक ही है।

[४१]

सविनय प्रणाम। आपका पत्र मिला। आपने लिखा कि शास्त्रोंका कथन है कि जीवमात्रको अच्छे-बुरे कर्मोंके अनुसार पुण्य और पापोंके फल भोगने ही पड़ते हैं और स्वर्ग-नरकसम्बन्धी अनेक बातें पुराणोंमें कही भी गयी हैं। सो यह सब ठीक है।

जीवितावस्थामें ही सुख-दुःख प्राप्तिको स्वर्ग-नरक मान लिया जाय—लिखा सो सुख-दुःखप्राप्तिको स्वर्ग-नरकके तुल्य मान सकते हैं। इस लोकमें जो सुख-दुःख मिलता है, उसमें पुण्यका फल सुख और पापका फल दुःख है, यह तो एक अंशमात्र है। संसारमें चौरासी लाख योनियाँ हैं। इस मनुष्ययोनिमें तो पुण्य-पापका फलरूप सुख-दुःख बहुत ही अल्प मिलता है, बाकी सब-का-सब दूसरी ही योनियोंमें भोगना पड़ता है।

स्वर्ग-नरकके दो भेद हैं—एक स्थानविशेष और एक योनिविशेष। स्वः, महः, जन, तप आदि स्थानविशेष स्वर्ग हैं।

कुम्भीपाक, रौरव, महारौरव, अन्धतामिस्र आदि स्थानविशेष नरक हैं तथा लता, गुल्म, वृक्ष आदि और सजीव पहाड़—ये स्थावर योनिविशेष नरक हैं। शूकर-कूकर आदि पशु, पक्षी, कीट-पतंग, सर्प, चींटी आदि जंगम योनिविशेष नरक हैं। सिद्ध, विद्याधर, गन्धर्व, पितर, यक्ष, देवता आदि स्वर्गरूप योनियाँ हैं।

आपने पूछा कि शरीर तो यहाँ शान्त हो जाता है और आत्मा नित्य अविनाशी है, फिर भोक्ता कौन है? सो ठीक है। इसका उत्तर है कि 'भोक्ता तो जीवात्मा है। न तो शरीर ही भोक्ता है, और न केवल आत्मा ही।' आत्माके साथ शरीरका जो सम्बन्ध है, उन दोनोंको मिलाकर जीव संज्ञा है। यह जीवात्मा ही इस मनुष्यशरीरमें किये गये पुण्य-पापके सुख-दुःखरूप फल स्वर्ग और नरकमें भोगता है। गीता अ० २ श्लोक २३, २४ में जो '**नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि०**' आदि कहा गया है, वह सब वर्णन केवल आत्माके विषयमें है, भोक्ता पुरुष जीवात्माके विषयमें नहीं। भोक्ता पुरुष जीवके विषयमें देखना हो तो 'गीता-तत्त्वांक' या गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित 'गीता-तत्त्वविवेचनी' में अध्याय २ श्लोक १३, २२ और अ० १३ श्लोक २१ तथा अध्याय १४ श्लोक १४ से १८ तक एवं अ० १५ श्लोक ७ से ११ तक आदि-आदि स्थलोंमें इसका वर्णन है। वहाँ देखनेसे आपको पता लग सकता है। अस्तु।

इस जीवके तीन शरीर होते हैं—१-स्थूल, २-सूक्ष्म और ३-कारण। यह जो मनुष्य आदिके शरीर दृष्टिगोचर हो रहे हैं ये तो आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—इन पंच-भूतोंसे बने हुए स्थूल-शरीर हैं। जब जीवात्मा इस स्थूल-शरीरको छोड़कर जाता है, तब भी इसके साथ सूक्ष्म और कारण—ये दो शरीर रहते हैं। जब महाप्रलय होता है, तब यह सूक्ष्म-शरीर भी कारणमें

विलीन हो जाता है। केवल कारण शरीर ही रहता है। फिर महासर्गके आदिमें प्रकृति और पुरुषके द्वारा सब जीवोंका पूर्वकृत पुण्य और पापरूप कर्मोंके अनुसार नाना प्रकारकी योनियोंके सूक्ष्म और स्थूलस्वरूप शरीरोंके साथ सम्बन्ध करा दिया जाता है। इसका संक्षेपसे गीता अ० ९ श्लोक ७ से १० तक और अ० १४ श्लोक ३-४ में वर्णन किया गया है। गीता-तत्त्वांककी टीकामें उक्त श्लोकोंका विस्तार देख सकते हैं।

शेष कुशल। भगवान्‌के भजन-ध्यानकी पूरी चेष्टा रखनी चाहिये।

[४२]

सप्रेम राम-राम! आपने गीता अध्याय ९ श्लोक २२ के सम्बन्धमें शंका की, सो ज्ञात हुई। इस श्लोकमें आये हुए '**पर्युपासते**' पदके 'परि' उपसर्गसे निष्कामभाव लिया गया है। भगवान्‌ने चार प्रकारके भक्त बतलाये हैं, वह ठीक है। उनमें अर्थार्थी और आर्त—ये दो भक्त तो लौकिक कामनावाले हैं तथा तीसरा जिज्ञासु भक्त आत्मकल्याणकी कामनावाला है और चौथा निष्काम ज्ञानी भक्त है। गीता ९। २२ में जो बात कही गयी है, वह इस चौथी श्रेणीके निष्काम ज्ञानी भक्तकी बात कही गयी है। गीतामें सकामको भी स्थान दिया गया है, यह आपका लिखना बहुत ठीक है। गीताके ९। २२ की टीकामें सकाम भक्तका योगक्षेम भी भगवान् वहन करते हैं, यह बात भी एक अलग प्रश्नोत्तर देकर स्पष्ट कर दी गयी है, जिसे आप गीता-तत्त्वविवेचनी टीकामें देख सकते हैं और उस श्लोककी टीकाको मननपूर्वक पढ़नेपर आपकी इस शंकाका समाधान अच्छी तरह हो सकता है। इस श्लोकमें जो निष्कामभाव शब्द रखा गया है, वह एक तो 'परि' का स्पष्ट अर्थ बतलानेके लिये है, दूसरे

भगवान्की उपासना यदि निष्कामभावसे की जाय तो उससे शीघ्र भगवत्प्राप्ति हो सकती है; अतः लोग शीघ्र भगवत्प्राप्ति करनेवाले मार्गको पकड़ें, इस उद्देश्यसे भी यह शब्द रखा गया है।

आपने उपमन्युका उदाहरण दिया, सो ठीक है। भगवान् प्रायः सभी जगह अपने अनन्य भक्तका लौकिक योगक्षेम भी वहन करते हैं, किंतु यदि किसी जगह वे नहीं भी वहन करते तो वहाँ उस भक्तका योगक्षेम वहन न करनेमें ही हित समझते हैं।

आपको गीता ९। २२ में निष्काम शब्दका व्यवहार करना ठीक नहीं लगा, सो ठीक है। भगवान्ने यहाँ तो निष्काम भक्तकी ही बात कही है; क्योंकि यहाँ एक '**अनन्याः**' पद और पड़ा हुआ है। जबतक अन्य किसी भी पदार्थकी कामना होगी, तबतक 'अनन्य' कहाँ हुआ, अनन्य होनेपर किसी भी वस्तुकी कामना नहीं रहेगी। अतः यह श्लोक निष्काम भक्तके विषयका ही है; किंतु गीतामें जगह-जगह सकाम भक्तकी भी बात कही गयी है (७। २३ और ९। २५)। आप उसीको मानकर उपासना कर सकते हैं।

मैंने जो यह लिखा है कि भगवान् साधनके विघ्नको मिटाते हैं। इसपर आपने पूछा कि 'क्या भक्तके सांसारिक कष्ट भगवान् नहीं दूर करते?' तथा आपने इसके लिये १८। ५८ के श्लोकका प्रमाण देकर द्रौपदीका संकट क्या साधनका विघ्न नहीं है लिखा, सो ठीक है। मैंने जो साधनविघ्नको भगवान् मिटाते हैं, यह बात लिखी है उसका अर्थ यह नहीं है कि भगवान् सांसारिक कष्ट दूर करते ही नहीं। भगवान् तो सांसारिक तथा साधनके सभी संकट दूर करते हैं—इसमें कोई संदेह नहीं। १८। ५८ की टीकामें भी स्पष्ट लिखा है कि 'मेरी दयाके प्रभावसे अनायास ही तुम्हारे इस लोक और परलोकके समस्त दुःख टल जायँगे।' इसका

अभिप्राय यही है कि इस लोकके सांसारिक दुःख तथा परलोकविषयक साधनके विघ्न सभी दूर हो जायँगे। द्रौपदीका संकट-निवारण भी सांसारिक दुःख-निवारण करनेके अन्तर्गत ही है। उसे आप साधनका विघ्न भी मानें तब भी कोई आपत्ति नहीं है। हाँ, कहीं-कहीं भगवान् सांसारिक कष्ट या साधनके विघ्नोंका निवारण नहीं भी करते, वहाँ उसे न करनेमें ही भक्तका हित है, इसलिये नहीं करते।

निरन्तर भजन-ध्यान करनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये। समय बीता जा रहा है। अब शीघ्र चेतना चाहिये और अपने मानव-जीवनके अमूल्य समयको अमूल्य काममें ही लगाना चाहिये। हर समय भगवान्का स्मरण करना यह सबसे बढ़कर अमूल्य कार्य है।

✦✦

[४३]

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार ज्ञात हुए। आपने पूछा—आजकल नाम-जपका प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं देखा जाता, इसका क्या कारण है? सो इसका उत्तर इस प्रकार है—

(१) नाम-जपका जो अमित प्रभाव है, उसपर जापकोंका पूरा विश्वास नहीं है।

(२) उस नामके अमित प्रभावयुक्त नामीकी आवश्यकताका पूरा अनुभव नहीं है, उसकी उत्कट लालसा नहीं है।

(३) नाम-जपके महत्त्वका न तो आपको पूरा अनुभव है और न विश्वास ही; अतः जिस प्रकारके भावसे नाम-जप करना चाहिये, उस प्रकार नहीं किया जाता। इसलिये उसका प्रभाव तत्काल प्रकट नहीं होता, कालान्तरमें हो सकता है; क्योंकि नाम-जप व्यर्थ नहीं जाता, वह अमोघ है।

(४) नाम-जप करनेवाले जितना मूल्य सांसारिक सुखके

साधनोंका समझते और मानते हैं, उतना नाम-जपका नहीं मानते। इस कारण उनका नाम-जपमें प्रेम नहीं होता। बिना प्रेमके प्रत्यक्ष प्रभाव प्रकट नहीं होता।

अब आपके अन्यान्य विचारोंका उत्तर लिखा जाता है—

भगवान् परम दयालु, पतितपावन और दीनबन्धु हैं; अतः उनके विरदकी ओर देखकर पापी-से-पापी, नीच-से-नीच और सब दुर्गुणोंके भण्डार किसी भी मनुष्यको अपने कल्याणके सम्बन्धमें निराश नहीं होना चाहिये। जो मनुष्य जैसा और जिस परिस्थितिमें है, वह उसी परिस्थितिका ठीक-ठीक उपयोग करके बहुत शीघ्र परमात्माकी कृपासे उनको प्राप्त कर सकता है—इसमें जरा भी संदेह नहीं है। पर उसके मनमें भगवान्‌को पानेकी उत्कट लालसा होनी चाहिये। भगवान्‌के न मिलनेका, उनका प्रेम प्राप्त न होनेका और अवगुणोंका नाश न होनेका दुःख होना चाहिये।

साधक जब अपने दोषोंको दोषरूपमें देखकर उनके दुःखसे दुःखी हो जाता है, उनका रहना उसे असह्य हो उठता है, फिर उसके दोष ठहर नहीं सकते; भगवान्‌की कृपासे उन दोषोंका अवश्य ही शीघ्र नाश हो जाता है।

साधकका मन चंचल हो और उसके विचार कुत्सित हों, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है तथा उसके मनमें राग-द्वेषादि अवगुण भरे हुए हों, यह भी सम्भव है; क्योंकि इनको मिटानेके लिये ही तो साधन करना है। यदि स्वभावसे ही उसमें अवगुण नहीं होते तो भगवान् मिल ही गये होते। पर भगवान् जिस प्रकार भक्तवत्सल हैं, उसी प्रकार पतितपावन और दीनबन्धु भी तो हैं। अतः अवगुणोंको देखकर साधकको निराश नहीं होना चाहिये, बल्कि कृपानिधान भगवान्‌की कृपापर विश्वास करके और यह मानकर कि मैं उनका हूँ, संसारमें एकमात्र भगवान्‌को छोड़कर

मेरा परमहितैषी वास्तवमें अन्य कोई नहीं है, एकमात्र भगवान्‌पर निर्भर हो जाना चाहिये। जबतक उनका प्रेम प्राप्त न हो और उनकी प्राप्ति न हो तबतक चैनसे न रहे, उनके लिये छटपटाता रहे। जिसको अपनी कमजोरीका अनुभव हो जाता है, वह अवश्य ही सहज स्वभावसे बलवान्‌का आश्रय लेनेके लिये बाध्य हो जाता है—यह प्रकृतिका नियम है।

अतः साधकको चाहिये कि यदि वह अपने विवेक और संयम आदिके प्रयोगसे अपने अवगुणोंको नहीं मिटा सके तो अपनेको निर्बल मानकर सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की शरण ले ले।

आपने लिखा कि 'ऊँचे-से-ऊँचे पुरुषमें भी मानसिक दुर्बलताएँ होती हैं,' इसपर मेरा लिखना है कि जो साधक अपने दोषोंको मिटाना चाहता हो, उसे दूसरेके दोषोंकी ओर नहीं देखना चाहिये। दूसरेके दोषोंको देखनेसे अपने दोष पुष्ट होते हैं, नये दोष उत्पन्न होते हैं × × ×।

हम जिसका दोष देखते हैं, उसमें हमारा घृणा और द्वेषका भाव होता है, जो साधनमें बड़ा भारी विघ्न है। साधकको चाहिये कि वह किसीका बुरा न चाहे; यह तो उसके जीवनका सर्वप्रथम व्रत होना चाहिये; क्योंकि जो किसीका भी बुरा चाहता है, उसका भला नहीं हो सकता—यह नियम है।

बुरा चाहनेवालेके मनमें बुरे संकल्प अवश्य होते हैं और उनके होते हुए कभी शान्ति नहीं मिल सकती।

परम पिता श्रीराम आपके इष्ट हैं, यह बड़े ही सौभाग्यकी बात है। आपको उनका आदर्श सामने रखते हुए भरतजीकी भाँति सब कुछ उनका मानकर सबसे अपनी ममता उठा लेनी चाहिये और एकमात्र प्रभुको ही अपना सर्वस्व मानना चाहिये। अपनेको सब प्रकारसे अनधिकारी, अवगुणका भण्डार मानकर, दुःखी

हृदयसे भरतजीकी भाँति एकमात्र प्रभुके स्वभावकी ओर देखकर उनका प्रेम और दर्शन पानेकी प्रतीक्षा करनी चाहिये।

जब आप प्रत्येक कामको भगवान्‌का समझकर करने लगेंगे, तब भगवान्‌की कृपाका अनुभव आपको अपने-आप होने लगेगा।

भगवान्‌की कृपा जो उसे चाहता है, उसीपर होती है; उनका तो स्वभाव ही कृपा करना है। वे जाति-पाँति और गुण-अवगुणोंकी ओर नहीं देखते। वे देखते हैं एकमात्र साधकके प्रेम और भावको। यदि साधक उनकी कृपाका अभिलाषी है, उसे दूसरे किसीका या अपने बलका भरोसा नहीं रहा है, वह सब ओरसे निराश होकर भगवान्‌पर निर्भर हो गया है तो भगवान् उसको तत्काल अपना लेंगे—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

मैंने आपके पत्रसे जो कुछ समझमें आया, उसके अनुसार आपको परामर्श दिया है। यदि आप इससे कुछ लाभ उठा सकेंगे तो मैं आपकी कृपा मानूँगा।

[४४]

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र यथासमय मिल गया था। आपके पत्रका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

(१) कुछ महीनोंसे यदि आपका मन भगवान्‌की भक्तिकी ओर झुका है तो बहुत अच्छी बात है। नेत्र मूँदनेपर भगवान्‌के शेषशायी आदि विभिन्न रूपोंके दर्शन होते हैं—यह भी अच्छी भावना, विचार और विश्वासका ही दिग्दर्शन है।

(२) आपने लिखा—'मैं नाम-जप तो करता नहीं, दिनभर उनकी यादमें रहनेके कारण काममें बाधा पड़ती है'—सो इसका कारण तो कामको भगवान्‌का न समझना ही है। यदि साधक

जो कुछ करे, उसे भगवान्‌का कार्य समझकर करे तो कार्यमें बाधा आनेका प्रसंग ही नहीं आ सकता; क्योंकि जिनकी याद आती है, काम भी उन्हींका किया जाता है। दोनोंकी एकता हो जानेपर मनमें दुविधा नहीं रह सकती।

तिरस्कारका दुःख तो उसको होता है, जो उस कार्यके बदलेमें मान-बड़ाई चाहता है। भगवान्‌का कार्य समझकर उन्हींकी प्रसन्नताके लिये करनेवालोंका अपमान होनेपर भी उन्हें तो प्रसन्नता ही होती है।

(३) भोजन करनेकी सुध न रहे तो इसमें हानि ही क्या है?

(४) यदि स्वास्थ्य ठीक है तो शरीर निष्प्राण-जैसा लगनेका क्या अभिप्राय है? क्या शरीरकी सुध नहीं रहती? यदि सुध न रहे तो वह निष्प्राण-जैसा प्रतीत किसको हो? यदि प्रतीत होता है तो प्राण भी रहते ही हैं; फिर निष्प्राण कैसे?

(५) कार्यमें मन तो इसलिये नहीं लगता होगा कि उसे आप भगवान्‌का नहीं समझते होंगे। प्रेमास्पदका नाम और प्रेमास्पदका ही कार्य समझ लेनेके बाद तो जितना उनकी रूप-माधुरीमें मन लगता है, उतना ही नाम और कार्यमें भी लगना चाहिये; क्योंकि नाम और कार्य भी तो उन्हींके हैं, जिनका रूप है, फिर भेद क्या?

(६) आपने पूछा कि यह भावुकता बंद कैसे हो? तो क्या आप इसे छोड़ना चाहते हैं? क्या भूख-प्यासको रखना आवश्यक है? इन प्रश्नोंपर आप गम्भीरतासे विचार करें।

(७) आपके परिवारमें मतभेद है, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि सबका स्वभाव, विश्वास, रुचि और योग्यता आदि समान नहीं होते। इस कारण मान्यतामें भेद होना अनिवार्य है तथा उसके अनुसार साधनमें भेद होना भी आवश्यक है; पर मतभेदको लेकर झगड़ा या मनोमालिन्य नहीं होना

चाहिये। यदि होता है तो यह बेसमझी है, इसे अवश्य मिटा देना चाहिये।

मूर्तिपूजा करना और निराकारका स्मरण-ध्यान करना दोनों ही वेदसम्मत हैं, निषेध किसीका नहीं है। अधिकारिभेदसे दोनों साधन हैं।

जिसका यह विश्वास है कि मूर्ति भगवान्‌का प्रतीक है, इसके द्वारा भगवान्‌की पूजा होती है और इससे भगवान् प्रसन्न होते हैं, उसके लिये मूर्तिपूजा लाभदायक हैं; क्योंकि वह परमेश्वर सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापी है, उसके हाथ, पैर, कान और सिर आदि सर्वत्र हैं। (गीता १३।१३—१८) वेदमें भी कहा गया है कि वह बिना पैरके चलता है, बिना कानके भी सुनता है इत्यादि।

इसी प्रकार जिनका यह विश्वास है कि वह परमेश्वर निराकार और सर्वव्यापी है, उसकी मूर्तिपूजा करना आवश्यक नहीं है, वह तो केवल स्तुति-प्रार्थनासे ही प्रसन्न होता है; उनके लिये वैसा ही करना ठीक है। अभिप्राय यह है कि अपनी-अपनी मान्यता, श्रद्धा-विश्वास और योग्यताके अनुसार साधनमें लगे रहना चाहिये और एक-दूसरेके साधनको आदरकी दृष्टिसे देखना चाहिये; किसीको भी किसीकी मान्यताको न तो हेय या निकृष्ट कहना चाहिये और न वैसा मानना ही चाहिये और न उसे अप्रामाणिक ही बताना चाहिये। वेद और शास्त्रोंमें अधिकारिभेदसे सब प्रकारकी साधन-प्रणालीका समर्थन मिलेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

(८) पुराणोंपर विश्वास करना या न करना—यह तो विश्वास और करनेवालेकी इच्छापर निर्भर है। पर विश्वास न करनेवालेको भी यह कहनेका कोई अधिकार नहीं है कि पुराण पाखण्ड हैं; इसी प्रकार शनि, रवि आदि ग्रहोंके विषयमें भी

समझ लेना चाहिये। हाँ, यह बात दूसरी है कि ढोंगी लोग पुराणोंको आधार बनाकर या ज्यौतिषशास्त्रका आश्रय लेकर अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये लोगोंमें अनेक प्रकारका झूठ प्रचार करें और लोगोंको ठगते रहें। इस प्रकारका ढोंग तो वेदके नामपर, सुधारके नामपर, काँग्रेसके नामपर और गाँधीजीके नामपर भी करनेवालोंकी कमी नहीं है। अतः उनसे सावधान रहना चाहिये।

(९) सभी मत-मतान्तरोंमें गुण-दोष दोनों ही रहते हैं और हैं। साधकके लिये तो यही ठीक मालूम होता है कि जिस मतकी जो बात उसे धर्मानुकूल, प्रिय, रुचिकर, हितकर और निर्दोष प्रतीत हो, उसपर विश्वास करके उसके अनुसार अपना जीवन बनाये, दूसरेको बुरा न समझे, किसीकी भी निन्दा न करे, किसीका दिल न दुखाये; दोष अपने देखे, गुण दूसरोंके देखे और उनको अपनाये। इसीमें उसका, उसके साथियोंका और सबका ही हित है।

(१०) मुझमें न तो आदेश और उपदेश देनेकी सामर्थ्य है और न मेरा अधिकार ही है। मैं तो अपने मित्रोंको जैसी ठीक और हितकर ज्ञात होती है, सलाह दे दिया करता हूँ। मानना और न मानना उनकी इच्छापर है। मैं किसी भी मतको बुरा बताने या त्याज्य बतानेका अपना अधिकार नहीं मानता।

(११) मुखसे नाम-जप न होकर भी यदि ईश्वरके ध्यानमें मन लगता है, उसमें आनन्द आता है, शान्ति मिलती है तो मुक्ति न मिलनेकी कोई बात नहीं है। पर जिस ईश्वरके रूपका आप चिन्तन करते हैं या चिन्तन होता है, उसका कुछ-न-कुछ तो नाम भी आप मानते ही होंगे; फिर यह कैसे कह सकते हैं कि नामका स्मरण नहीं होता? नाम और रूप तो दोनों स्वभावसे ही साथ

रहनेवाले हैं। नाम-जपका सुलभ उपाय भी नाम और रूपमें भेद न मानना ही आपके लिये उचित प्रतीत होता है।

(१२) शरीर निष्प्राण हो जानेके विषयमें तो ऊपर लिखा ही गया है। आपने पूछा—प्रभुका साक्षात्कार कब होगा? इसका उत्तर तो यही हो सकता है कि जब आप किसी भी अवस्था और परिस्थितिमें बिना उनके प्रत्यक्ष दर्शनोंके चैनसे नहीं रह सकेंगे, उसी समय दर्शन हो जायँगे। इसके लिये कोई समय निश्चित नहीं होता तथा ईश्वर-साक्षात्कारका उपाय केवल उपवास आदि नहीं है; उनके दर्शन तो एकमात्र प्रेमपूर्वक उत्कट इच्छासे ही होते हैं।

(१३) एकान्तका अच्छा लगना भी उत्तम है। किंतु सब ईश्वरके ही हैं या सबमें ईश्वर है अथवा सब ईश्वरस्वरूप हैं—इनमेंसे कोई एक भाव दृढ़ होनेपर एकान्तके बिना सबसे हिल-मिलकर भी ध्यान-मग्न रह सकते हैं।

(१४) आपको विवाहसे सुख नहीं मिला तो क्या हानि है। विवाह आपने किसलिये किया था—कर्तव्यपालनके लिये, भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये या सुख-भोग प्राप्त करनेके लिये? इसपर विचार कीजिये।

पत्नीका भोजनके लिये अनुरोध करना उचित ही है। ध्यानमें बाधा तो आपकी ही कमजोरीसे पड़ सकती है, दूसरा कोई भी किसीके ध्यानमें बाधा कैसे डाल सकता है?

आपकी पत्नी आवश्यक सामान यदि आपसे न माँगे तो किससे माँगे? यदि उसकी माँग उचित हो तो उसे पूरा करना आपका कर्तव्य है और यदि अनुचित हो तो समझाकर संतोष करा देना चाहिये। यदि वह क्रोध करती है तो भूल करती है; पर आपको तो क्षमा ही करनी चाहिये। उसकी भूलकी ओर न देखकर अपनी भूलोंका सुधार करना चाहिये।

आवश्यक समझ लेनेके बाद भूल मिट जाया करती है। यदि कर्तव्य-पालन भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही करना है तो ध्यानमें और उसमें भेद ही क्या है?

आप गीता-पाठ करते हैं और पत्नी आपकी पुस्तक छीनकर व्यर्थ बातें करती है तो ऐसा वह क्यों करती है? इसका कारण समझना चाहिये और उसकी उचित इच्छाको भगवान्‌के नाते पूरा कर देना चाहिये, स्वयं उससे किसी स्वार्थकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये। व्यर्थ बातोंमें यदि आपका आकर्षण नहीं होगा तो वह क्यों और कैसे करेगी?

जो कुछ भी परेच्छा और अनिच्छासे होता है, उसमें ईश्वरकी कृपा तो अवश्य है; साधककी समझमें न आये यह हो सकता है।

घर छोड़नेका संकल्प मनका धोखा है। जो मनुष्य परिस्थितिका दास है, वह परिस्थिति बदलकर कैसे उन्नति कर सकता है।

(१५) परिवारका पालन यदि कोई एक व्यक्ति करता है और उसका भार यदि वह अपनेपर मानता है तो वह भगवान्‌का भक्त या साधक नहीं हो सकता। भगवान्‌के भक्तको तो समझना चाहिये कि समस्त परिवार भगवान्‌का है। वे ही सबका भरण-पोषण करते हैं, मैं भी उन्हींमेंसे एक हूँ। वे जिस कार्यमें जिसको निमित्त बना देते हैं, वही बन जाता है। अतः वह न तो यह अभिमान रखता है कि मैं सबका भरण-पोषण करता हूँ, न यह अभिमान रखता है कि मेरी योग्यतासे आय होती है और इससे सबका भरण-पोषण चलता है। वह तो ईश्वरकी प्रसन्नताके लिये अपना कर्तव्य-पालन करता है, उसके विधानमें प्रसन्न रहता है और जो कुछ मिलता है, उसीको प्रसादके रूपमें ग्रहण करके मस्त रहता है। उसे रोटीका प्रश्न कैसे विक्षिप्त कर सकता है? आप यदि अपनेको मनुष्य मानते हैं तो मनुष्यके कर्तव्यका पालन करें, भक्त मानते हैं तो भक्तके कर्तव्यका

पालन करें, साधक मानते हैं तो साधकके कर्तव्यका पालन करें—वह भी ईश्वरकी प्रसन्नताके लिये, किसी प्रकारके सांसारिक सुखकी कामनासे नहीं।

[४५]

सादर विनयपूर्वक प्रणाम। आपका पत्र ता० १८। ६। ५६ का लिखा हुआ यथा समय मिल गया था। समय कम मिलनेके कारण उत्तर देनेमें देर हुई, इसके लिये क्षमा करें।

आपने परमार्थ-पत्रावलीमें कही गयी एक बातपर एक सज्जनसे सुनी हुई टिप्पणी लिखी और उसका समाधान पूछा, उसका उत्तर नीचे लिखा जा रहा है—

मैंने पत्रमें जो कुछ लिखा है, वह व्यक्तिगत परामर्शके रूपमें लिखा है, किसी भी धर्मपर आक्षेप करनेके उद्देश्यसे नहीं; इस बातको नहीं भूलना चाहिये; क्योंकि किसी भी धर्मपर आक्षेप करके उस धर्मकी प्रेरणाके अनुसार साधन करनेवालोंकी बुद्धिमें भेद उत्पन्न कर देना या द्वेष या घृणा उत्पन्न करना किसी भी सद्भाव रखनेवाले मनुष्यके लिये हितकर नहीं है।

उत्तर इस प्रकार है—

'सत्-शास्त्र कसौटी' के प्रसंगमें जो यह बात कही गयी है कि जीवको आवागमनके जालसे छुड़ानेवाले शास्त्र ही सत्-शास्त्र हैं, इसमें किसीका भी मतभेद नहीं हो सकता।

जिस शास्त्रमें राग-द्वेष, मोह, ममता, मद-अहंकार, हिंसा-प्रतिहिंसा, काम-क्रोध आदि दुर्भावोंका निषेध किया गया हो तथा इनको मिटानेवाले वैराग्य, क्षमा, दया, संयम आदि भावोंका समर्थन किया गया हो, जिसमें वस्तुके स्वरूपका वर्णन करके उसका तत्त्व समझाया गया हो, जिसमें सबके लिये कल्याणकारी

उपदेश हों, उसके शास्त्र होनेमें भी किसीका कोई विरोध नहीं है; पर राग-द्वेषसे रहित होकर—लाभ-हानि, जय-पराजयमें सम होकर कर्तव्यरूपसे अपने-अपने वर्ण-आश्रमके विधानानुसार कर्तव्य-पालनके लिये युद्ध आदि करना कैसे मुक्ति देनेवाला है और वह किस प्रकार मनुष्यको अपने परम लक्ष्यकी प्राप्ति करा सकता है, इस रहस्यको समझानेवाला शास्त्र भी परम आवश्यक सत्-शास्त्र है—यह भी समझनेका विषय है।

इस भावको समझानेवाले और भगवान्में प्रेम कराकर संसारके मोह-जालसे छुड़ानेवाले शास्त्रोंका महत्त्व किसीकी समझमें न आये, यह दूसरी बात है। पर वास्तवमें वे शास्त्र आसक्तिको बढ़ानेवाले नहीं हैं, राग-द्वेषको मिटाकर समता और निर्दोष स्वार्थरहित प्रेम प्रदान करके मुक्ति दिलानेवाले हैं।

जो रागी, द्वेषी, क्रोधी, कपटी, मोही एवं अल्पज्ञ पुरुषोंद्वारा रचे गये हों, वे शास्त्र अवश्य ही माननेयोग्य नहीं हैं। इस कसौटीपर खरे उतरनेवाले श्रीमद्भगवद्गीता, पातंजलयोगदर्शन, ब्रह्मसूत्र, ईशावास्यादि उपनिषद् इत्यादि बहुत-से आर्षग्रन्थ हैं। आप पढ़ना चाहें तो गीताप्रेससे मँगवा सकते हैं।

इनके सिवा जो पुराण और इतिहासके ग्रन्थ हैं, उनमें तो धर्मका तत्त्व समझानेके लिये सभी प्रकारके चरित्रोंका वर्णन है। बुरे कर्मोंका बुरा फल और अच्छेका अच्छा फल दिखानेके लिये ही उनका प्रणयन हुआ है।

'परधर्मो भयावहः' इसका अर्थ जो मैंने किसी सज्जनको लिखा है, न तो स्वार्थवश लिखा है और न उन्हें डरानेके लिये ही। इस प्रकार किसीकी भी नीयतपर दोषारोपण करना कहाँतक उचित है और कहाँतक साधुता है, इसपर तो आपको इस प्रकारकी बात कहनेवाले सज्जन स्वयं विचार करें।

इसके विषयमें आपको जो यह समझाया गया है कि इन शब्दोंद्वारा अर्जुनको डराया गया है, वह ठीक नहीं है। यह वाक्य गीता अध्याय ३।३५ का अंश है, जिसके पूर्वश्लोकमें राग-द्वेषको शत्रु बताया गया है एवं इसपर अर्जुनके पूछनेपर काम-क्रोधको पापकर्मका कारण बताकर अध्याय-समाप्तितक कामका नाश करनेके उपाय बताये गये हैं। प्रकरण देखनेसे यह पता लग सकता है। आपको भी तो प्रभुने विवेक-शक्ति प्रदान की है। उस स्थलको आप भली प्रकार समझिये।

स्वधर्म और परधर्मका अर्थ किसी सीमामें नहीं बाँधा जा सकता। जिस व्यक्तिका उसके वर्ण, आश्रम, परिस्थिति, स्वभाव, स्वीकृति, सम्प्रदाय और सम्बन्ध आदिकी दृष्टिसे जो कर्तव्य है, वही उसका स्वधर्म है एवं उसके विपरीत परधर्म है। परधर्म देखनेमें सुन्दर होनेपर भी हितकर नहीं होता। यह भाव समझानेके लिये ही उसे भयावह कहा गया है। इस प्रसंगमें गीता अध्याय ३ का श्लोक ३५ तथा अध्याय १८ के ४५, ४६, ४७, ४८ आदि सभी श्लोक देखनेयोग्य हैं। गीता तो स्वधर्मको ही परमसिद्धिका सुगम उपाय मानती है।

प्रत्येक व्यक्तिका प्रत्येक अवस्थामें, यदि वह उसका सदुपयोग करे तो, कल्याण हो सकता है। उसे सहजमें ही इस वर्तमान कालमें ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। यह उनको स्वीकार न हो तो उनकी इच्छा है, तथापि वे अपने धर्मका ठीक-ठीक पालन करें, दूसरोंसे राग-द्वेष न करें, किसीकी निन्दा न करें तो उनको अपने उसी धर्मसे अपना अभीष्ट मिल सकता है—ऐसा उनको विश्वास रखना चाहिये।

✦✦

[४६]

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र यथासमय मिल गया था; अवकाश कम मिलनेके कारण उत्तर देनेमें विलम्ब हो गया, इसके लिये किसी भी प्रकारका विचार नहीं करना चाहिये। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

महाभारतमें कहीं भी ऐसा कोई प्रसंग देखनेमें नहीं आया, जिसमें अर्जुन कर्णसे मुकुट माँगकर लाये हों अथवा भीष्मजीको धोखा देनेके लिये कर्ण बनकर गये हों तथा भीष्मजीने पाँचों पाण्डवोंको मारनेकी प्रतिज्ञा की हो, इत्यादि। अतः यह मानना कि भगवान् श्रीकृष्ण किसीको धोखा-धड़ी करना सिखाते हैं, उचित नहीं। भगवान् जो कुछ सिखाते हैं, वह सब श्रीमद्भगवद्गीतामें स्पष्ट है। इसके विरुद्ध कोई बात माननेयोग्य नहीं हो सकती।

भगवान् श्रीरामने वालीके अत्याचार और अधर्मका नाश करनेके लिये ही उसे मारा था, द्वेषवश नहीं। उन्होंने मारकर भी उसे अपने परमधाममें भेजा, उसका कोई अहित नहीं किया। पशुओंको छिपकर मारना धोखेबाजी नहीं है। अत्याचारी हिंसक जीवोंसे प्रजाकी रक्षा करना तो क्षत्रियोंका धर्म है।

वालीने सुग्रीवके जीते-जी उसकी इच्छाके बिना बलपूर्वक उसकी स्त्रीको अपने अधीन कर लिया था, इसलिये उसका वह अन्याय था। पर विभीषणने मन्दोदरीको और सुग्रीवने ताराको अपने कुलकी प्रथाके अनुसार बलके प्रयोग बिना, उनकी सम्मतिसे स्वीकार किया था, इसलिये वह अन्याय नहीं था। तब भगवान् उसका विरोध कैसे करते?

कल्याणमें जो प्रारब्धानुसार सुख-दुःख मिलनेकी बात कही गयी है, वह सामान्य प्रचलित नियमकी बात है; किंतु रामायणमें जो यह कहा गया है—***'मेटत कठिन कुअंक भाल के'*** और

'भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी' वह भगवान् और शिवजीके विशेष प्रभावका वर्णन है। इसलिये दोनों ही ठीक हैं। मनुष्य अपने बलसे भावीको नहीं मिटा सकता—इस कथनसे भगवान्‌की शक्तिका खण्डन नहीं होता।

इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि प्रारब्धका काम तो सुख-दुःखदायक परिस्थितिको उत्पन्न कर देना ही है, फिर उसका सदुपयोग करके सुख और शान्ति प्राप्त करनेमें अथवा दुरुपयोग करके दुःख और अशान्ति मोल लेनेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है।

किसीके द्वारा हठात् अपमानित किया जाना; गालियोंसे तिरस्कृत होना अवश्य ही उस अपमानित अथवा तिरस्कृत व्यक्तिके पूर्वकृत कर्मका ही भोग है। अतः वह यदि अपराध करनेवालेको क्षमा कर दे, उसका बदला लेना न चाहे तो उसकी यह साधुता है। इससे अपराधी दण्डसे बच सकता है। नहीं तो अपराधीको न्यायानुसार दण्ड मिलेगा ही।

यदि कोई उस अत्याचारीका हित सोचकर नीतिकी रक्षाके लिये न्यायपूर्वक उसके अत्याचारका विरोध भी करे तो बुराई नहीं है; पर क्षमा-धर्म इससे अधिक महत्त्व रखता है।

भगवान् स्वयं भी प्रकट होकर प्राणियोंके कर्मोंका फल भुगताते हैं, दैवी-प्रकोप, महामारी, अकाल आदिके द्वारा भी पापोंका फल देते हैं तथा पशु-पक्षी आदि प्राणियोंद्वारा भी दिलाते हैं। ये सब बातें सबकी समझमें नहीं आतीं। सत्प्रेरणा और असत्प्रेरणा पूर्वकृत संचित कर्मसंस्कारोंके अनुसार होती है। सत्प्रेरणाका आदर करना, उसे प्रभुकी कृपा मानकर उसके अनुसार अपना जीवन बनाना और विवेकके द्वारा असत्प्रेरणाका बुरा परिणाम समझकर उसका त्याग करना—यह साधकका काम

है। विवेकके द्वारा सत्प्रेरणा और असत्प्रेरणाको समझनेकी शक्ति ईश्वरने सबको दी है, अतः उनका सदुपयोग करनेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है।

आपको 'कल्याण' पढ़नेसे लाभ होता है, यह बड़ी अच्छी बात है। प्रभुकी कृपा है, आपका सद्भाव है। 'कल्याण' का प्रकाशन तो भगवान्‌की कृपासे ही हो रहा है।

✦✦

[४७]

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला, समाचार विदित हुए। आपने अपनी परिस्थितिका परिचय लिखा सो ठीक है। द्रव्योपार्जनके लिये यथावश्यक न्यायोचित चेष्टा करना ही मनुष्यका काम है। इसके परिणाममें लाभ या हानि—जो कुछ भी हो, उसे प्रभुकी कृपा मानकर सदैव संतुष्ट रहना चाहिये।

जब आपको आवश्यकतानुसार भोजन और वस्त्र प्राप्त हैं, तब चिन्ताका कोई कारण ही नहीं है। सदैव एक-सी परिस्थिति नहीं रहती। जैसे दुःखद परिस्थिति बिना बुलाये अपने-आप आती है, वैसे ही वह चली भी जाती है। अतः साधकको धैर्य रखना चाहिये।

आपकी इच्छा बचपनसे ईश्वर-प्राप्तिकी रही एवं अबतक जो विषयोपभोगमें व्यर्थ समय गया, उसका आपको पश्चात्ताप है—यह बड़ी अच्छी बात है। भगवान्‌की दया और सत्संगसे ही इस प्रकारके भावोंका उदय हुआ करता है। इसीलिये भगवान् प्रतिकूलताका प्रदर्शन कराया करते हैं कि साधक कहीं अनुकूलताके सुखमें फँस न जायँ। वर्तमान परिस्थितिसे जो आपकी ईश्वर-प्राप्ति-विषयक इच्छा दृढ़ हुई, यह बड़ा ही अच्छा हुआ।

आप जो पठन-पाठन आदिका अभ्यास कर रहे हैं, उससे

आपको संतोष नहीं है—यह भी उचित ही है। साधकके जीवनमें साधनकी भूख तो उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहनी चाहिये।

भगवान्‌के साकार-स्वरूपके दर्शनोंकी ऐसी उत्कट इच्छाका होना, जिसकी पूर्तिके बिना जीना ही कठिन हो जाय, यह प्रभुकी महती कृपा है। इस रहस्यको समझकर अपनेको उनका कृतज्ञ बनाना चाहिये। हृदय उनके प्रेमसे भर जाना चाहिये एवं विरह-व्याकुलता नित्य नयी बढ़ती रहनी चाहिये।

आपने लिखा कि 'अब क्षणभरके लिये भी संसारमें और घरमें रहनेकी मेरी इच्छा नहीं होती'—इसपर गम्भीरतासे विचार करें। संसारके बाहर आप कहाँ जायँगे? यह मन, बुद्धि और इन्द्रियोंका समुदाय शरीर भी तो संसारका ही हिस्सा है। इससे सम्बन्ध रखते हुए, इसे अपना मानते हुए आप संसारसे अलग कैसे हो सकेंगे? ऐसा कोई स्थान नहीं है, जो संसारका हिस्सा न हो; फिर आप जायँगे कहाँ?

जिस शारीरिक, मानसिक मानापमान आदिको झंझट मानकर आप घर छोड़ना चाहते हैं, ये सब आप जहाँ जायँगे वहाँ भी आपके साथ रहेंगे; क्योंकि जिनको आप अपने मानते हैं, वे मन, बुद्धि आदि तो आपके साथ रहेंगे ही।

अतः अच्छा हो कि आप जिस घर और कुटुम्बको अपना मानते हैं, उसको भगवान्‌का समझें और भगवान्‌की कृपासे आपको जो विवेक प्राप्त है, उससे भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये उनकी आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार अपने कर्त्तव्य-कर्मोंद्वारा सबकी सेवा करते रहें। किसीसे भी किसी प्रकारके सुखकी आशा न रखें। मन, बुद्धि और अपने-आपको तथा जो कुछ आपके पास है, सबको भगवान्‌के समर्पण कर दें। किसीमें ममता न रखें तथा अपनेको भगवान्‌का समझें और भगवान्‌को अपना समझें।

साधक वर्तमान परिस्थितिको ही साधन सामग्री समझे; क्योंकि वह भगवान्की कृपासे मिली है। उसे बदलनेमें साधक स्वतन्त्र नहीं है। उसका सदुपयोग करनेमें वह स्वतन्त्र है। अत: भगवान्पर निर्भर रहना, हर-हालतमें निश्चिन्त रहना, उनकी कृपाका दर्शन करते हुए उनके प्रेममें विभोर और विरहमें व्याकुल रहना—यही साधकका काम है; क्योंकि साधकका हित किसमें है—इस बातको जितना परम दयालु सर्वसमर्थ प्रभु जानते हैं, उतना साधक नहीं जानता। अत: साधकको किसी प्रकारकी परिस्थितिकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। परिस्थितिकी इच्छा उसे परिस्थितिका दास बना देती है।

भगवान्का होकर किसी परिस्थितिका दास बनना साधनमें विघ्नके अतिरिक्त और क्या हो सकता है। अत: साधकको सब प्रकारकी कामनासे रहित होकर हर प्रकारसे प्रभुपर निर्भर रहना चाहिये।

[४८]

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार मालूम हुए। आपने जो साधना की, उसका विवरण लिखा, वह भी ज्ञात हुआ। उससे जो-जो लाभ आपको प्रतीत हुए, यह भगवान्की विशेष कृपा है। इस कृपाका अनुभव करके विशेष लाभ उठाना चाहिये अर्थात् भगवान्पर विश्वास दृढ़ बनाना चाहिये और उनमें नित्य नवीन प्रेम बढ़े, इसकी चेष्टा करनी चाहिये।

किंतु इस लाभमें भी आप जिनको अपना विरोधी मानते हैं, वे तो सहायक हैं, जैसे ध्रुवको भक्तिमें लगानेमें उसकी सौतेली माता सहायक हुई थी। इस दृष्टिसे आपको चाहिये कि उन विरोधियोंकी भी अपनेपर कृपा ही मानें।

वास्तवमें तो बात ऐसी है कि किसीको अपना विरोधी मानना ही भूल है; क्योंकि दूसरा कोई भी किसीको दुःख-सुख नहीं दे सकता। दुःख-सुखकी परिस्थिति तो प्राणीको अपने कर्मके अनुसार ही प्राप्त होती है; दूसरा तो केवल निमित्तमात्र होता है। अतः किसीको भी विरोधी नहीं मानना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि न तो अपने साथ विरोध करनेवालोंसे बदला लेनेकी भावना रखना, न उनका बुरा चाहना और न किसी प्रकार भी उनका अहित ही करना चाहिये। बल्कि ऐसा भाव रखना चाहिये कि उनकी बुद्धि शुद्ध हो, ताकि वे किसीको कष्ट देनेमें निमित्त न बनें।

इस प्रकार अपना भाव शुद्ध कर लेनेपर करनेवालेको शान्ति मिल सकती है, मनमें शुद्धि आ सकती है और अपने साथ विरोध करनेवालोंका भी भाव बदल सकता है। अतः इसमें सब प्रकारसे सबका हित है।

दूसरेके साथ की हुई भलाई अपने साथ ही भलाई है और दूसरेके साथ की हुई बुराई अपने प्रति ही बुराई है। अतः मनुष्यको कभी किसी प्रकार भी किसीका बुरा करनेकी बात मनमें नहीं आने देनी चाहिये।

किसीको अपना शत्रु मानना और उसको वशमें करनेका या परास्त करनेका उपाय सोचना—यह सब प्रकारसे अपने लिये हानिकारक है। इसमें न तो अपना हित है और न दूसरेका ही। फिर भगवान्‌की भक्ति और जप आदिके अनुष्ठानको दूसरेके अनिष्टकी भावनासे करना तो अत्यन्त मूर्खता है। उनका उपयोग तो भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम बढ़ानेके लिये ही करना सब प्रकारसे हितकर है।

आपके मनमें जो अशान्ति और चंचलता है, वह भी

वैरभावका त्याग कर देनेसे और जिनको आप विरोधी मानते हैं, उनके अपराधको क्षमा कर देनेसे शान्त हो सकती है।

जब आप समाजकी सेवा करना ही अपने जीवनका लक्ष्य बनाना चाहते हैं, आपके मनमें आध्यात्मिक मार्गपर चलनेकी उत्कट अभिलाषा है, कर्मयोगका साधन आपको प्रिय है, तब इस परिस्थितिमें तो आपके लिये यही सर्वोत्तम मार्ग है कि किसीको अपना विरोधी या शत्रु न मानें, शुद्ध भावनासे उनका हित-चिन्तन करें, उनको विफलमनोरथ करनेकी न सोचें; प्रत्युत उनसे क्षमा माँग लें और उदारतापूर्वक समझौता कर लें। वस्तुएँ सब अनित्य हैं, इनका वियोग अनिवार्य है। कर्मयोगके साधनमें स्वार्थका त्याग पहला कदम है, इसको किये बिना कर्मयोग सिद्ध ही नहीं हो सकता। अत: आप भजन-साधन जो कुछ भी करते हैं, सब-का-सब एकमात्र प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही करना चाहिये। उसके बदलेमें किसी प्रकारके फलकी कामना नहीं करनी चाहिये। प्रभु जो कुछ करते हैं और करेंगे, उसीमें मेरा हित है—ऐसा विश्वास करके हर एक परिस्थितिमें निश्चिन्त रहना चाहिये। जिस प्रकार अनुकूल परिस्थिति सदैव नहीं रहती, उसी प्रकार प्रतिकूल भी सदा नहीं रहती। उसका परिवर्तन अवश्यम्भावी है; फिर चिन्ता करनेमें क्या लाभ?

[४९]

सादर हरिस्मरण! आपका कार्ड मिला, समाचार विदित हुए। उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये चार भेद अन्त:करणके माने गये हैं। मनका काम मनन करना और संकल्प-विकल्प है। बुद्धिका काम निर्णय करना और निश्चय करना है। चित्तका काम

चिन्तन करना है। अहंकारका काम अपना और पराया मानना है। पहले संकल्प-विकल्प होता है, इसमें मनका सम्बन्ध इन्द्रियोंसे रहता है। मननमें इन्द्रियोंसे सम्बन्ध छूट जाता है, तब चित्तसे सम्बन्ध होकर मनन चिन्तनका रूप धारण कर लेता है, उस समय मन और चित्तकी एकता हो जाती है। उसके बाद जब इनका सम्बन्ध बुद्धिसे हो जाता है, तब बुद्धिद्वारा पहले विवेचन, फिर निर्णय और निश्चय होकर एकाग्र वृत्तिरूप ध्यान होता है। अहंकारका सम्बन्ध सब अवस्थाओंमें रहता है।

(२) श्रद्धामें विवेचन नहीं होता, मान्यता होती है। निश्चय विवेचन और निर्णयपूर्वक होता है। अन्तमें दोनों एक हो जाते हैं। अपने-अपने स्थानमें दोनों ही उच्चश्रेणीके होते हैं।

यह शरीर आत्मा नहीं है; तो भी जो प्राणी इसीको अपना स्वरूप मानता रहता है, उसका यह गलत विश्वास है। जो विवेचनपूर्वक निश्चय किया जाता है, उसमें ऐसे विश्वासको स्थान नहीं है; किंतु यदि मन-इन्द्रियोंके ज्ञानका प्रभाव बुद्धिपर पड़ जाय तो उस बुद्धिद्वारा किया हुआ निर्णय और निश्चय भी निम्नश्रेणीका ही होता है। इस प्रकार विश्वास और निश्चयका भेद और परस्परका सम्बन्ध समझना चाहिये।

(३) 'संशय' संदेहको कहते हैं। यह मन और बुद्धि दोनोंमें ही रहता है। इन्द्रियोंमें भी इसका निवास है। कार्यमें यह सफल नहीं होने देता और कर्तव्यमें प्रवृत्ति नहीं होने देता। इसके नाशका उपाय विवेक और विश्वास है। विश्वासका ही दूसरा नाम उस समय श्रद्धा हो जाता है, जब वह पूज्यभाव और भक्तिपूर्वक होता है।

(४) भगवान्‌की दया तो सबपर समान है। उनकी कृपासे ही मनुष्यको विवेक मिला है। सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, हवा, पानी प्राणिमात्रको भगवान्‌की दयासे ही यथावश्यक सुख प्रदान कर

रहे हैं। पर मनुष्य न तो उनकी कृपाका आदर करता है, न अपने ज्ञानका ही। इतना ही नहीं, उस करुणा-वरुणालयपर श्रद्धा भी नहीं करता; और तो क्या, उनको अपना परम हितैषी भी नहीं मानता। तब उनकी अपार दयाका रहस्य इसकी समझमें कैसे आये? जो साधक उनके सुहृदतापूर्ण स्वभावकी ओर देखकर सब प्रकारसे उनका हो जाता है, अपने-आपको उनकी गोदमें बैठा देता है, सर्वथा उनपर निर्भर होकर सदाके लिये निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है, वही धन्य है। उसीने मनुष्य-जीवनको सार्थक बनाया, उसके व्यवहारमें वर्णाश्रम-धर्म रहता है, पर उसका सम्बन्ध एकमात्र अपने परमाधार भगवान्‌से ही रहता है। उसका समस्त व्यवहार भगवत्कृपासे प्राप्त विवेक-शक्ति और वस्तुओंद्वारा भगवान्‌के विधानानुसार नाट्यशालाके स्वाँगकी भाँति उन प्रेमास्पदकी प्रसन्नताके लिये ही होता है।

[५०]

सादर नमो नारायणाय। आपका पत्र गोरखपुर होता हुआ मिला। समाचार विदित हुए। आपके प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—

(१) वर्तमानमें ही सहज स्वभावसे अन्त:करणकी चेष्टाएँ निर्मल हो सकती हैं, यदि साधक उनसे सम्बन्ध-विच्छेद कर दे। जबतक साधकका सम्बन्ध स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंसे बना रहेगा, वह इनको अपना स्वरूप मानता रहेगा यानी इनमें 'मैं' पनका भाव रहेगा या इनमें ममता रहेगी, तबतक उसका सर्वथा निर्मल विचार नहीं हो सकता।

(२) भगवान् और भक्तों (संतों)-की कृपा तो स्वभावसे ही बिना किसी कारणके सबपर है। पर उसका आदर करके उनकी

कृपाका लाभ उठाना और आदर न करके लाभ न उठाना—यह साधककी मान्यता और साधनपर निर्भर है।

जबतक साधकको उनकी कृपाकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, उसके लिये वह लालायित नहीं हो जाता, उसके लाभसे वंचित रहनेका उसे दुःख नहीं है, तबतक उस कृपाका अनुभव नहीं होता। जब साधक उनकी कृपाको मान लेता है, उसका उस कृपापर दृढ़ विश्वास हो जाता है, तब उस कृपाका अनुभव भी उस कृपासे ही अपने-आप होने लगता है, कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। पर जबतक मनुष्यको उनकी कृपासे प्राप्त बल, योग्यता और सामग्रीमें ममता-अभिमान रहता है और वह उनका उपयोग ठीक नहीं करता, तबतक उसमें शरणागतिका या कृपानिर्भरताका भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। इस मार्गमें श्रद्धा ही एकमात्र प्रधान उपाय है।

भगवद्विश्वासीको कभी हताश नहीं होना चाहिये; हताश होना ईश्वरकी दयापर दोषारोपण है, और कुछ नहीं। × × ×

✦✦

[५१]

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार विदित हुए। 'कल्याण' मासिकपत्रमें मेरे पत्रोंको पढ़कर आपने अपने जीवनकी समस्याका प्रश्न भेजा, उसका उत्तर इस प्रकार है—

आपकी परीक्षा समाप्त हो गयी होगी, नंबर अच्छे मिल गये होंगे?

स्वप्नदोषकी घटना और उसके न होनेका साधन पूछा सो इसके लिये निम्नलिखित उपाय किये जा सकते हैं—

(१) संसारकी आसक्ति और कामनासे रहित होकर एकमात्र प्रभुको ही सब प्रकारसे अपना मानना और उनपर निर्भर हो जाना। ऐसा करनेसे भगवान्‌में प्रेम हो जाता है, तब संसारसे

सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेपर बुरे संकल्पोंका समूल नाश हो सकता है।

(२) सोते समय भगवान्‌का स्मरण करते-करते सोनेकी आदत डालनेसे बुरे स्वप्नका आना बंद हो सकता है।

(३) स्वप्नदोषसे होनेवाले दुःखद परिणामको समझकर उससे मिलनेवाले मिथ्या सुखकी कामनाका त्याग करके उस वासनाको उठा दिया जाय तो स्वप्नदोष बंद हो सकता है।

(४) विवाह करके नियमानुसार अपनी धर्मपत्नीसे सहवासद्वारा भी विषय-वासनासे रहित हो जानेपर स्वप्नदोषका शमन हो सकता है।

(५) प्रातः सायं दो रत्ती बंग भस्म आधा तोला शहदके साथ लेकर आधा सेर दूध पीनेसे भी स्वप्नदोष कम हो सकता है। औषध-सेवनके विषयमें विशेष जानकारी करनी हो तो उस विषयके जानकार वैद्यसे पूछना चाहिये।

✦✦

[५२]

सादर हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। समाचार विदित हुए। आपकी शंकाओंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) किसी भी प्रकारकी चाहका नाम इच्छा है। उसके मुख्य दो भेद हैं—

(क) जिसमें सांसारिक सुखकी कामना हो, उसके लिये पदार्थों और व्यक्तियोंकी माँग हो, वह इच्छा तो त्याज्य है; क्योंकि उससे मनमें अशान्ति, अभावका दुःख रहता है। ऐसी इच्छाओंकी निवृत्ति तो हो सकती है, पर पूर्ति नहीं हो सकती।

(ख) दूसरी इच्छा-शक्ति वह है, जिसमें सदा एकरस नित्य-आनन्दमय परमात्माकी माँग रहती है। इसकी पूर्ति वर्तमानमें ही हो

सकती है। इसके लिये भक्ति, ज्ञान या योग तीनोंमेंसे एक साधन अवश्य होना चाहिये। इस माँगकी पूर्ति होनेपर मन अपने-आप एकाग्र हो जाता है। अन्य सभी प्रकारकी इच्छाओंका समूल नाश हो जाता है। सदा रहनेवाली परम शान्ति मिल जाती है।

(२) मनको एकाग्र करनेके लिये संसारसे वैराग्य और भगवान्‌के नामका जप परम आवश्यक है। जो भी कार्य किया जाय वह सांसारिक सुखके लिये न हो। भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये कर्तव्य मानकर सेवाके रूपमें निष्कामभावसे किया जाय तो कार्य अपने-आप उच्चकोटिका होने लगेगा।

(३) भगवान्‌के स्मरणसे मनका बल बढ़ सकता है तथा योगाभ्याससे भी बढ़ सकता है। यह प्राकृत नियम है कि मन जितना शुद्ध हो जायगा, उतना ही सबल होता जायगा। भगवान्‌के स्मरणसे और सबके हितके लिये निष्कामसेवा करनेसे मन शुद्ध होता है।

(४) भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास हो जानेपर, उनको अपना मान लेनेपर और उनके गुण-प्रभावका अनुभव हो जानेपर मनुष्य सहज ही निर्भय हो सकता है।

(५) आप यदि सचमुच संयमसे रहना चाहते हैं तो स्वार्थका त्याग करके प्रभुपर निर्भर हो जाइये; फिर जीवनमें संयम अपने-आप आ सकता है। विषयोंमें वैराग्य हो जाय, तो भी संयम आ सकता है।

(६) संसारकी पराधीनताके दुःखसे पूर्ण दुःखी होकर यदि सांसारिक सुखकी इच्छाका सर्वथा त्याग कर दिया जाय तो अपने-आप आत्मबल जाग्रत् हो सकता है। मनुष्यको सांसारिक सुखकी इच्छाने ही पराधीनताके जालमे फँसा रखा है।

[५३]

सादर हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। समाचार विदित हुए। आपने अपने साधनके विषयमें लिखा सो ठीक है; परंतु जब आपका साधन ठीक चल रहा था, उन्नति हो रही थी, वैसी परिस्थितिमें आपने उसे बदला क्यों? उसके विषयमें संदेह क्यों किया? जब आप भगवान् रामको अपने सामने देखना चाहते हैं, तब आपको ध्यान भी उन्हींका करना चाहिये।

आँख बंद करनेके बाद दीखनेवाले अँधेरेका या हलके प्रकाशका ध्यान करना या उसे देखते रहना साधन नहीं है। ध्यान तो अपने इष्टदेव परमात्माका ही करना चाहिये और वह प्रेमपूर्वक मनसे करना चाहिये। पहले उनके साथ सम्बन्ध होगा, उसके बाद प्रेम होनेपर स्मरण होगा, उसके बाद चिन्तन और ध्यान होगा। उसके पहले असली ध्यान कैसे होगा?

प्रत्यक्ष दर्शन तो प्रेमपूर्वक विरह-व्याकुलतासे ही हो सकते हैं। जबतक उनके दर्शनकी अतिशय लालसा उत्पन्न न हो, तबतक उनका दर्शन कैसे हो सकता है? एवं जबतक भोगोंकी लालसाका नाश न होगा, उससे हृदय भरा रहेगा, तबतक भगवान्के दर्शनको हृदयमें स्थान कैसे मिलेगा? अतः पहले विषय-भोगकी कामनाका त्याग करके भगवान्से मिलनेकी लालसाको प्रबल बनाना चाहिये।

साधकको ध्यानजनित थोड़ी-सी शान्तिके सुखमें भी रस नहीं लेना चाहिये। उसका उपभोग करते रहनेसे साधनमें प्रगति रुक सकती है।

आप यदि अपने इष्टदेवका दर्शन चाहते हैं तो फिर सुषुप्तिकी झलकको क्यों चाहते हैं? सुषुप्ति तो प्रतिदिन शयनकालमें होती ही है। वह कोई बड़ी चीज नहीं है, बल्कि वह तो बाधक है।

आपके यहाँ राजयोगी कौन हैं, मैं नहीं जानता। शक्ति-

प्रयोगका चमत्कार दिखानेवाले अधिकांश आजकल दम्भी हुआ करते हैं। सुषुप्ति अवस्था साधनकी या योगकी उन्नतिका लक्षण नहीं है बल्कि यह तो तामसी भाव है, अतः साधनमें विघ्न है। सावधान रहना चाहिये।

मैं तो आपको परामर्श दे सकता हूँ। अपनी मान्यताके अनुसार साधनका तरीका बता सकता हूँ। शक्ति-प्रयोग करनेकी न तो मुझमें सामर्थ्य है और न मैं करना जानता ही हूँ और न उसका प्रयोग करना ही ठीक समझता हूँ। अतः मुझसे आपको इस प्रकारकी आशा नहीं रखनी चाहिये। भगवान्‌का दर्शन आपको भगवान्‌की कृपासे ही हो सकता है।

जिस साधनसे आपकी काम-वासना मिटी थी, वह आपके लिये बड़ा अच्छा था; वही फिर आरम्भ करना चाहिये। उसपर ही दृढ़ विश्वास रखना चाहिये। बार-बार साधनमें संदेह करना और उसे बदलते रहना साधकके लिये हितकर नहीं होता।

भगवान्‌का आपपर कोप नहीं है। उनकी तो बड़ी दया है। भगवान्‌का तो कभी किसीपर कोप होता ही नहीं। आपने उनकी कृपाका तत्त्व नहीं समझा, इसलिये जो काम-वासना दब गयी थी, वह फिर मौका पाकर उभर आयी है। अतः चिन्ता न करें, भगवान् बड़े दयालु हैं। पुनः पूर्ववत् उनका स्मरण-चिन्तन करना आरम्भ कर दें और उनकी कृपापर निर्भर हो जायँ। यही सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

[५४]

सादर हरिस्मरण। आपका कार्ड मिला। समाचार ज्ञात हुए। उत्तर इस प्रकार है—

(१) आपने लिखा, 'मैंने छः वर्षसे आध्यात्मिक क्रियाका

साधन आरम्भ किया है, पर उसमें प्रगति नहीं होती।' इससे ज्ञात होता है कि आप जो साधन कर रहे हैं, वह ठीक आपकी समझमें नहीं आया। साधनमें निम्नलिखित बातें होनेपर उसमें मन लग सकता है—

(क) साधन ऐसा होना चाहिये, जिसमें साधककी रुचि हो।

(ख) जो साधन किया जाय, वह साधककी योग्यता और स्वभावके अनुकूल हो अर्थात् जिसको साधक अनायास सहज स्वभावसे ही कर सके।

(ग) जिसमें साधकका श्रद्धा-विश्वास हो कि यह साधन अवश्य ही मुझे मेरे लक्ष्यतक पहुँचा देगा।

इस प्रकार साधनका चुनाव हो जाय और साधक उसे समझ ले तो फिर साधन साधकका स्वभाव बन जाता है। उसके करनेमें न तो आलस्य और प्रमाद बाधक हो सकता है और न मनकी चंचलता ही।

(२) ईश्वर सबका शासक, स्वामी, रक्षक और परमहितकारी है; वह सर्वत्र है। जो अन्य किसीसे मिलनेकी इच्छा नहीं रखता, एकमात्र उसीसे मिलनेके लिये व्याकुल हो जाता है, उसे वह तत्काल मिल जाता है। उससे साधक जिस प्रकार और जिस रूपमें मिलना चाहता है, वह उसी रूपमें साधकको मिल जाता है। भगवान्‌के मिलनेमें श्रद्धा-प्रेम ही प्रधान है। मिलनेके बाद यह शंका अपने-आप मिट जाती है कि वह मिलेगा या नहीं। मिलनेके बाद जो स्थिति होती है, उसका वर्णन गीता अध्याय १२, श्लोक १३ से १९ तक देख लीजिये। वहाँ भगवान्‌के प्रिय भगवत्प्राप्त भक्तोंके लक्षण बतलाये गये हैं।

(३) यह संसार अनित्य अर्थात् परिवर्तनशील और नाशवान् है—जिस रूपमें दिखायी देता है, उस रूपमें नहीं रहता। जो-जो

बननेवाली चीजें हैं, वे सभी अनित्य होती हैं। बननेवाली वस्तुका बिगड़ना अनिवार्य है, यह सबके अनुभवमें आता है। यह संसार जीवोंको उनके शुभाशुभ कर्मोंका फल भुगतानेके लिये और मनुष्योंको कर्मबन्धनसे छुड़ानेके लिये बना है। पुण्य और पाप तो मनुष्य अपनी वासनाके अनुसार स्वयं करता है। यदि संसारमें पाप न हो तो पुण्य किसे कहते हैं—यह पता ही न चले; यदि दुःख न हो तो सुखकी क्या पहचान?

सृष्टि बननेके पूर्व आप, हम और सभी प्राणी अव्यक्तरूपमें थे एवं भगवान्‌में ही उनकी प्रकृतिके आश्रित थे। बादमें अपने-अपने पूर्वकर्मानुसार यथासमय प्रकट होते रहे।

(४) ईश्वरकी इच्छा बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता—यह समझ जिनकी है, वे तो कुछ नहीं करते और उनके द्वारा जो क्रिया होती है, वह भगवत्प्रेरणासे होती है; अतः उसमें कोई पाप नहीं होता। पर जो मनुष्य सांसारिक सुखकी इच्छासे मनमाना कर्म करना चाहते हैं, अपनेको उस कर्मका कर्ता मानते हैं, भगवान्‌की आज्ञाको न मानकर उसका उल्लंघन करते हैं, वे ही दोषके भागी होते हैं। कर्म करनेका अधिकार भगवान्‌ने मनुष्यको दिया है और उसकी विधि भी बता दी है, उसको हरेक मनुष्य समझता भी है, फिर भी उसका उल्लंघन करता है; इसलिये ही वह दोषी होता है। जो इस रहस्यको समझ लेता है कि उसकी कृपाके बिना कुछ नहीं होता, वह अपनी ओरसे कुछ नहीं करता, अतः उसका 'करना' 'होने' में बदल जाता है।

(५) छः वैरियोंमें लोभ और क्रोध अधिक बलवान् है; इनका कारण काम है और उसका भी कारण मोह अर्थात् अज्ञान है।

इनसे निस्तार पानेके लिये साधकको चाहिये कि उसकी जो अज्ञानसे भोगोंमें सुख-बुद्धि हो रही है, उसे अपने विचारद्वारा

मिटाये, इनमें आसक्त न हो। भोगोंकी इच्छा छोड़ देनेपर सभी कामादि वैरियोंसे निस्तार हो सकता है।

क्रोधको मिटानेके लिये साधकको चाहिये कि जो कुछ हो रहा है, उसे भगवान्‌का विधान मान ले, अपने अधिकारके अभिमानका त्याग कर दे, दूसरोंको आदर दे, उनके अवगुणोंकी ओर दृष्टिपात न करे और अपने कर्तव्यका पालन भगवान्‌की सेवाके रूपमें करता रहे।

(६) बिना अनुमतिके किसीकी वस्तुको ले लेना अवश्य ही पापकर्म है। किस कर्ममें कितना पाप होता है, उसका कर्ताको क्या दण्ड मिलता है और कब मिलता है—यह फलदाताके हाथमें है। प्रभुके कानूनमें सब बातोंका विधान अवश्य है, पर उससे पूरा-पूरा नाप-तौल नहीं किया जा सकता। विस्तार देखना हो तो धर्मशास्त्र और इतिहास-पुराणोंमें देख सकते हैं। जहाँ नरक-यातनाका वर्णन आता है, वहाँ बतलाया गया है कि कर्मका फल इस जन्ममें भी मिलता है और आगामी जन्ममें भी।

[५५]

सादर हरिस्मरण। आपका कार्ड मिला। समाचार ज्ञात हुए। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) भगवत्प्राप्ति हो जानेके बाद क्या करना चाहिये—यह प्रश्न भगवत्प्राप्त पुरुषके लिये नहीं रहता; क्योंकि उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है। फिर भी उसके शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिद्वारा वही क्रिया अपने-आप हुआ करती है, जो होनी चाहिये। उसकी प्रत्येक क्रियामें लोकहित भरा रहता है।

(२) भगवत्प्राप्तिके उपाय अनेक हैं। उनके मुख्य रूपमें तीन भेद शास्त्रोंमें बताये गये हैं—(१) ज्ञानयोग, (२) भक्तियोग,

(३) कर्मयोग। निष्कामभाव, वैराग्य, समता, शम, दम, तितिक्षा, विवेक आदि गुणोंकी सभी मार्गोंमें आवश्यकता है एवं दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, आलस्य, प्रमाद और भोगका त्याग भी सब प्रकारके साधनोंमें होना चाहिये।

(३) मनुष्योंकी आसक्ति भोगोंमें हो रही है, वे समझते हैं कि इन भोगोंके द्वारा हम मनकी इच्छा पूरी करके सुखी हो जायँगे। इस मिथ्या धारणाके कारण और भगवत्प्राप्तिके महत्त्वमें विश्वास न होनेके कारण मनुष्यमें भगवत्प्राप्तिकी इच्छा जाग्रत् नहीं होती।

(४) जो मनुष्य ज्ञानके द्वारा जगत्की अनित्यता, क्षणभंगुरता, दुःखरूपता और सारहीनताको समझ गये हैं और इस परिवर्तनशील अशान्त अभावपूर्ण जीवनसे विरक्त होकर आत्मकल्याणके लिये साधन करते हैं, उनको परमात्मा प्राप्त हो सकते हैं।

(५) परमात्माकी प्राप्ति होनेपर मनुष्य सब प्रकारके दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, दुःख, भय और चिन्तासे सदाके लिये मुक्त हो जाता है। उसे सदाके लिये परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है। उसके जीवनमें पराधीनता और किसी प्रकारका अभाव नहीं रहता।

(६) भगवान्की प्राप्तिके जितने उपाय हैं, वे सब शरीर, मन, इन्द्रियों और बुद्धिको तथा समस्त व्यावहारिक कार्योंको सुन्दर और निर्दोष बना देनेवाले हैं। अतः उनके परिणाममें कोई वास्तविक भेद नहीं है। अज्ञानी मनुष्य काम, क्रोध, लोभ और मोह आदिके वशमें होकर भेद मानने लग जाता है।

(७) भगवान्की प्राप्ति मनुष्य जब चाहे, तभी हो सकती है; क्योंकि इसमें समयकी कोई अवधि नहीं है। केवल एक ही शर्त है कि भगवत्प्रेमके सिवा अन्य किसी पदार्थकी इच्छा नहीं रहनी चाहिये।

(८) नित्यमुक्त, शुद्ध ज्ञानस्वरूप, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वश्रेष्ठ, सर्वरूप, परब्रह्म परमेश्वरको पा लेना, उनका साक्षात् हो जाना ही भगवत्प्राप्ति है।

(९) 'भगवान्' शब्दकी व्याख्या शास्त्रोंमें बहुत प्रकारसे की गयी है।* जिसमें उपर्युक्त गुण हों और अन्य भी समस्त सद्गुणोंका जो भण्डार हो तथा जो सर्वव्यापी निर्गुण निराकार निर्विशेष भी हो, वह भगवान् है।

(१०) 'भगवान्', 'आप', 'यह' और 'मैं'—इनमें भेद है। यह भेद जीवोंकी दृष्टिसे है और अनादि है, ब्रह्मकी दृष्टिसे नहीं।

◆◆

[५६]

सादर हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। समाचार ज्ञात हुए। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) आपका 'मैं' भाव दो भागोंमें विभक्त है। एक तो आपने जिसको अपना स्वरूप मान रखा है, यह मनुष्य-जीवन, जो कि भगवान्की कृपासे आपको मिला है और आपसे सर्वथा भिन्न है।

---

* श्रीविष्णुपुराणमें बतलाया गया है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

(६।५।७४)

'सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—इन छहोंका नाम 'भग' है (जो इनसे सम्पन्न हैं, वे 'भगवान्' हैं)।

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥

(६।५।७८)

'जो समस्त प्राणियोंके उत्पत्ति और प्रलयको, उनके आने और जानेको तथा विद्या और अविद्याको जानते हैं, वे ही 'भगवान्' कहलानेयोग्य हैं।'

दूसरा आपका वास्तविक स्वरूप है, जो उस भगवान्‌का ही अंश है।

आपका कर्तव्य क्या है, इसकी परिभाषा बहुत लंबी-चौड़ी है। उसका विस्तार पत्रमें नहीं लिखा जा सकता। मनुष्यका कर्तव्य बतानेके लिये असंख्य पुस्तकें और ग्रन्थ हैं। उनमें भगवद्‌गीता सब शास्त्रोंका सार है। आपको गीताके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये। संक्षेपमें आपका कर्तव्य वही है, जो सर्वहितकारी हो, जिसे करनेकी शक्ति, सामग्री और आवश्यक साधन आपको प्राप्त हो एवं जो आपके वर्ण-आश्रम-धर्मके अनुसार आपके लिये विहित हो और जिससे परमात्माकी प्राप्ति हो।

(२) आप अपनेको जहाँ समझ रहे हैं, वहीं हैं। वास्तवमें ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ आप न हों। शरीरमें आपका खास स्थान हृदय माना गया है। अपना स्वरूप आप स्वयं ही जान सकते हैं, उसका वर्णन नहीं होता। संसारमें विभिन्नता होना अनिवार्य है, स्वाभाविक है और अनादि है।

(३) आप यहाँ (मनुष्य-शरीरमें) अपने पूर्वकृत कर्मोंका फल भोगकर संसारसे उऋण होकर सदाके लिये इसके बन्धनसे छूटनेके लिये आये हैं। इसके पहले आप इस संसारमें ही थे, पर किस शरीरमें अपना अस्तित्व मानते थे, यह कोई नहीं बता सकता। योगविद्यासे आप स्वयं जान सकते हैं।

(४) जिस शरीरको छोड़कर आप इस मनुष्य-शरीरमें आये हैं, उसके संस्कार दब गये हैं, इस कारण उनकी स्मृति नहीं हो रही है। निमित्त पाकर हो भी सकती है, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आप जब माताके गर्भमें थे, उस समयकी भी तो कोई बात याद नहीं है। करीब तीन सालतकके बालकपनमें—बहुत छोटी अवस्थामें जो काम किये थे, वे भी याद नहीं हैं।

रोज जो स्वप्न आता है, वह याद नहीं रहता। इसके अतिरिक्त और भी बहुत बातें स्मरण नहीं रहतीं, यह सबको मालूम है; फिर पूर्वजन्मकी बात याद न रहना कोई आश्चर्य नहीं है।

(५) आपका आवागमन इसलिये चालू है कि आप संसारके ऋणी हैं। उससे लिया तो बहुत है, दिया बहुत कम है। अतः संसारके ऋणसे जबतक मुक्ति नहीं हो जाती, तबतक आवागमन कैसे छूटे?

(६) आपका चरम लक्ष्य क्या है, यह तो आप जानें; पर मनुष्य जीवनका चरम लक्ष्य संसारके बन्धनसे छूटकर अपने परम प्रियतम प्रभुको पा लेना ही है।

(७) भगवान्‌की कृपासे जो ज्ञान प्राप्त है, उसके द्वारा संसारका स्वरूप तो प्रत्यक्ष ही क्षणभंगुर और अनित्य दिखलायी दे रहा है। अतः इसमें आसक्त होना, इससे सम्बन्ध जोड़ना, इसकी इच्छा करना मूर्खता है। दूसरी बात रही भगवान्‌को जाननेकी, सो साधकको चाहिये कि दृढ़ विश्वासपूर्वक यह स्वीकार कर ले कि भगवान् हैं और वे मेरे हैं। मैं और यह समस्त विश्व भी उन्हींका है। इस प्रकार मान लेनेपर वे स्वयं ही कृपा करके अपनेको जना देते हैं।

(८) ईश्वरमें आस्था (निष्ठा) श्रद्धा करनेपर ही हो सकती है। जिनकी उनपर आस्था है, उनकी और वेद-शास्त्रकी बात माननेसे, प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाली उनकी महिमाको देखकर उसपर विचार करनेसे और अपने ज्ञानके अनुसार जीवन बना लेनेसे ईश्वरमें आस्था सहज ही हो सकती है।

(९) भगवान्‌का प्रभाव क्या है, इसका उत्तर इस छोटे-से पत्रमें कैसे लिखा जाय, उनके प्रभावका वर्णन करनेमें बहुत कुछ कहकर भी कोई पूर्णतया नहीं कह सका। अतः इतना मान लेना ही साधकके लिये पर्याप्त है कि इस जगत्‌में जो-जो भी व्यक्ति,

पदार्थ आदि ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और प्रभावशाली प्रतीत होते हैं, उन सबका प्रभाव उन्हींके प्रभावके एक अंशका प्राकट्य है (गीता १०।४१)।

(१०) भगवत्प्राप्त महापुरुषका जो दिव्य ज्ञान है, वही गुरुतत्त्व है।

(११) हरिकी कृपा तो अनन्त है, सदैव है और सबपर है। उसका अनुभव उस कृपाको माननेपर होता है। अतः मनुष्यको उन परम कृपालु भगवान्‌का अपनेको कृतज्ञ मानकर उनके आदेशानुसार अपना जीवन बना लेना चाहिये।

(१२) प्रभु अवश्य ही विभु हैं,ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ प्रभु न हों। स्थानकी पवित्रता और अपवित्रता तो मनुष्योंकी दृष्टिमें है और उसका प्रभाव भी उन्हींपर पड़ता है। आप विचार करें—क्या आपके शरीरमें जहाँ मल-मूत्रका स्थान है, वहाँ आप नहीं हैं। इस दृष्टिसे आपकी यह शंका ही बेसमझीकी है। मल और मूत्र जब आपके शरीरसे अलग होते हैं, तभी उनको अपवित्र कहा जाता है, शरीरमें रहते हुए नहीं।

(१३) वर्णों और आश्रमोंकी व्यवस्था मनुष्य-समाजको सुखी और स्वस्थ बनानेके लिये परम आवश्यक है और वह सर्वहितकारी होनेसे इहलोक-परलोकमें कल्याणकारी है। इस विषयमें आप अधिक क्या जानना चाहते हैं, विस्तारपूर्वक पूछनेपर उत्तर दिया जा सकता है।

(१४) धर्मका बन्धन सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होनेके लिये है। इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाले कर्तव्यका ही नाम धर्म है। वास्तवमें धर्मका कोई बन्धन नहीं होता। मनुष्यके कर्तव्यका जो विधान है, उसीको धर्मके नामसे कहा जाता है। बिना विधानके कोई भी व्यवस्था नहीं रह सकती।

(१५) धर्मका आश्रय छोड़ देनेपर मनुष्यको अधर्म घेर लेता है, जिसका परिणाम दुःख, अशान्ति, पराधीनता, अव्यवस्था और पतन अनिवार्य है। तथा दुःख किसीको अभीष्ट नहीं है, अतः धर्मका आश्रय परम आवश्यक है।

(१६) सनातन धर्म उस धर्मका नाम है, जो इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाला हो—'**यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः**' (वैशेषिक० सूत्र २) तथा जो अनादि है, जो ईश्वरीय विधान है, जो सबके लिये माननेयोग्य है। उसमें जो भेद प्रतीत हो रहे हैं, इसका कारण कहीं तो स्वार्थी लोगोंद्वारा स्वार्थवश किया हुआ प्रचार है और कहीं वह अधिकारीके भेदसे आवश्यक है; क्योंकि सब मनुष्य एक ही मार्गसे नहीं चल सकते। प्रत्येककी बुद्धि, योग्यता, प्रकृति और समझमें भेद होता है। उसके अनुसार उनकी साधनामें भेद होना भी स्वाभाविक है। ऐसा मतभेद उस सनातन धर्मकी विशेषता और महानताका द्योतक है।

(१७) परम शान्तिकी प्राप्तिके लिये आपको उसी मान्यताको साधनके रूपमें अपनाना चाहिये, जो शास्त्रानुकूल हो, आपको रुचिकर हो, जिसपर आपका दृढ़ विश्वास हो, जिस मान्यताके अनुरूप आप सहज ही अपना जीवन बना सकें। जिस मान्यतामें न तो किसीके अहितकी भावना हो, न किसीके साथ द्वेष हो, न किसीकी निन्दा हो—ऐसी सर्वहितकारी मान्यतासे तथा ईश्वरकी भक्ति और ज्ञानसे परम शान्ति मिल सकती है।

अब मानससम्बन्धी शंकाओंका उत्तर क्रमसे लिखा जाता है—

(१) रामचरितमानस कैसा है, यह तो उसमें स्वयं तुलसीदासजीने लिखा ही है। दूसरा कोई उससे अधिक क्या बतायेगा। उसके प्रचारका हेतु तो यही मानना चाहिये कि मनुष्योंका भगवान्में श्रद्धा-प्रेम हो और वे उनके जीवनकी कथासे अपने-अपने

कर्तव्यका ज्ञान प्राप्त करें एवं ईश्वरकी भक्तिद्वारा उनको प्राप्त करें।

(२) श्रोता और वक्ताके लक्षण भी रामचरितमानसके आरम्भमें ही तुलसीदासजीने स्वयं बता दिये हैं। वक्ता सदाचारी, भगवान् रामका प्रेमी भक्त, लोभ और कामनासे रहित अवश्य होना चाहिये। श्रोताके हृदयमें भगवान् रामपर श्रद्धा और उनके चरित्र सुननेकी लालसा होनी चाहिये।

(३) श्रीमानसके कथाप्रबन्धमें विचित्रता सबके लिये एक-सी नहीं है। जिसकी जैसी धारणा है, उसको वैसी ही विचित्रता प्रतीत होती है।

(४) शंकर-धनुषको बड़े-बड़े योद्धा नहीं उठा सके, इसमें भगवान् रामद्वारा अभिमानियोंका अभिमान नाश करना और अपने भक्तोंकी श्रद्धाको बढ़ाना इत्यादि रहस्य हैं।

मूर्छित हुए श्रीलक्ष्मणजीको राक्षसलोग ही नहीं, स्वयं रावण भी नहीं उठा सका—इसमें भी रावण आदिको जो अपने बल-पराक्रमका अभिमान था, उसका नाश करना और लक्ष्मणजीकी महिमाका प्राकट्य आदि रहस्य भरा पड़ा है।

(५) भगवान् राघवेन्द्रने मनुष्यका स्वाँग लिया था। अतः उस स्वाँगके अनुरूप ही लीला न की जाती तो सारा खेल ही बिगड़ जाता। अपने स्वाँगका पूर्णतया निर्वाह करना ही इन सब लीलाओंका उद्देश्य है। सुग्रीवके साथ श्रीरामने जो क्रोधकी लीला की, उसमें यदि सचमुच क्रोध होता तो क्या वे यह कहते कि—

भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव।

(रामचरितमानस, किष्किन्धा० १८)

इसी प्रकार सीताहरणके समय उन्होंने जो शोक और विषादकी लीला की, उसमें भी वास्तवमें दुःख नहीं था। शबरी

और ऋषि-मुनियोंके मिलनेमें एवं नारदके साथ हुई बातोंके प्रसंगमें इसका रहस्य खुल जाता है।

फुलवारीमें जो हर्षकी लीला है, उसका रहस्य भी लक्ष्मणके सामने भगवान्ने ही खोल दिया है।

(६) हनुमान्जी ब्रह्मपाशमें स्वयं अपनी इच्छासे उसका मान रखने और रावणसे मिलनेके लिये बँधे थे।

इसी प्रकार भगवान् राम भी नागपाशका आदर करनेके लिये स्वयं अपनी इच्छासे ही नागपाशमें बँधे थे।

(७) मानसमें 'सत्' शब्दका प्रयोग विभिन्न अर्थोंमें हुआ है। शब्दका अर्थ प्रसंगके अनुसार हुआ करता है, उसे समझना चाहिये। 'सत्' शब्द सत्ताका, श्रेष्ठताका और संख्याका भी वाचक होता है। सत्य बोलनेको भी 'सत्' कहते हैं। आपने जो उदाहरण दिखाये हैं, उनमें तीनों ही अर्थ क्रमसे आये हैं।

(८) 'दूना' शब्द गणितकी दृष्टिसे किसी-न-किसी प्रकारके नाप-तौलकी ओर संकेत करता है। पर आपके पूछे हुए प्रसंगोंमें सुख और सुहागका तो नाप-तौल हो सकता है, क्योंकि वह वर्णन सीमितभावविषयक है। परंतु भगवान् रामका प्रेम अपरिमित है, उसका नाप-तौल नहीं हो सकता; अतः श्रीहनुमान्जीके कथनमें जो 'दूना' शब्दका प्रयोग है, वह इस भावका द्योतक है कि हे माता! श्रीरामजीका आपके प्रति प्रेम आपसे भी अधिक है। इसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजीने हनुमान्जीको भी आश्वासन देनेके लिये ही 'दूना' शब्दका प्रयोग किया है, नाप-तौलकी दृष्टिसे नहीं।

(९) जनकजीने जो चित्रकूटमें सीताजीको उपदेश दिया है, वहाँ 'गुरु' शब्द बड़ोंका वाचक है। श्रीरामजीके जो-जो माननीय पूज्य थे, वे सभी गुरुके अर्थमें सम्मिलित हैं। अतः स्त्रियोंके लिये गुरु बनानेकी बात नहीं है।

(१०) रामनामका स्मरण गोप्य होते हुए भी किसीको सुनाकर करनेका निषेध नहीं है। शब्द यदि दूसरेको न सुनायी दे, पर भाव यह हो कि मैं रामनामका जप करता हूँ, उसे गुप्त रखता हूँ—इसे लोग जानें, तो वह वास्तवमें गुप्त नहीं है। सुनाकर किया जाय, पर उसमें किसी प्रकारकी मान-बड़ाईकी या अपना महत्त्व प्रकट करनेकी भावना नहीं है तो वह गुप्त ही है। यही इसका रहस्य है।

किसी मन्त्रके मनमें अपने-आप होनेवाले स्मरणका दोष नहीं है।

(११) भगवान् श्रीरामको समस्त अयोध्यावासी साक्षात् परब्रह्म जानते थे, यह तो नहीं कहा जा सकता; क्योंकि सबके भावका क्या पता लगे। परंतु उनको चाहते सभी थे, उनके प्रति प्रेम सबका था। हाँ, सबका प्रेम एक-सा नहीं हो सकता। अयोध्याका प्रभाव जाननेवाला ही उसका प्रभाव बतानेमें शायद समर्थ न हो तो मैं उसे कैसे बताऊँ?

(१२) मानसमें सीता-वनवास, लव-कुशका यौवराज्याभिषेक, लक्ष्मणजीके त्यागका प्रसंग नहीं कहा गया। सम्भव है गोस्वामीजीको यह वर्णन रुचिकर नहीं रहा हो।

'गए जहाँ सीतल अवँराई' (रामचरित०, उत्तर० ४९। ३)

वाला प्रसंग परमधाम पधारनेका हो, यह बात नहीं है।

✦✦

[५७]

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र गीताप्रेस, गोरखपुर होकर मिला। समाचार ज्ञात हुए।

आपने लिखा कि मैं शीघ्र-से-शीघ्र भगवान्‌को प्राप्त करना चाहता हूँ। पर यह बात कहाँतक ठीक है, इसपर विचार करना चाहिये। अपने मनसे ही पूछिये कि भगवान्‌के मिलनेमें जो

विलम्ब हो रहा है, उसका कितना दुःख है। यदि दुःख नहीं है तो वह चाह कैसी? संसारमें देखा जाता है कि छोटी-से-छोटी आवश्यकताकी पूर्ति न होनेपर मनुष्य दुःखी हो जाता है, उसे चैन नहीं पड़ता, पर भगवान्‌के न मिलनेपर वह चैनसे रह सकता है। फिर भी उसे यह भान होता है कि मैं भगवान्‌को प्राप्त करना चाहता हूँ।

वास्तवमें बात ऐसी है—जो सचमुच भगवान्‌से मिलना चाहता है, भगवान् उससे मिलनेके लिये आतुर हो उठते हैं। पर जो भगवान्‌को निमित्त बनाकर सांसारिक सुख प्राप्त करना चाहता है, उसे भगवान् कैसे मिलें? जो भगवान्‌को प्राप्त करना चाहेगा, उसे अन्य किसी भी वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छा क्यों रहेगी?

आपने पूछा कि निष्कामभाव प्राप्त करनेके लिये व्यवहारमें कैसे बरतना चाहिये सो जो साधक निष्कामभाव प्राप्त करना चाहे, उसे किसीसे भी अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये। अपने कर्तव्यका पालन करते रहना चाहिये; किंतु उसका अभिमान नहीं करना चाहिये। किसीके दोषोंको नहीं देखना चाहिये। समस्त व्यक्ति, वस्तुएँ भगवान्‌की हैं; अतः कोई न तो मेरा है, न पराया है; ऐसा भाव रखना चाहिये। सबका हित करनेका भाव रखना चाहिये। किसीका भी अहित न तो करना चाहिये, न मनमें किसीके अहितकी इच्छा ही करनी चाहिये। ऐसा करनेसे निष्कामभाव प्राप्त हो सकता है।

शरीर-निर्वाहके लिये आवश्यक वस्तु न तो किसीसे माँगनी चाहिये और न उसका भार भगवान्‌पर ही छोड़ना चाहिये। बिना याचना अपने-आप जो कुछ मिल जाय, उसे शरीरके उपयोगमें लगा सकते हैं। न मिले तो उस भगवान्‌के विधानमें उनकी कृपाका अनुभव करके उनके प्रेममें विभोर हो जाना चाहिये।

यदि आवश्यकतासे अधिक वस्तु प्राप्त हो जाय तो जिनको आवश्यकता हो, उनके हितमें उसको लगा देना चाहिये। शरीरके लिये आवश्यक वस्तु प्राप्त हो तो उसको शरीरके निर्वाहमें लगा देना चाहिये और उसमें भी भगवान्‌की कृपाका अनुभव करते हुए उनके प्रेममें निमग्न रहना चाहिये। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि न तो निष्कामभावका अभिमान हो और न प्राप्त वस्तुओंके सुखमें लिप्त हो।

आपने लिखा कि मैं दिनभर नामजप करता हूँ, यह अच्छी बात है; पर क्या रात्रिमें नामजप नहीं करते? यदि नहीं करते हैं तो निरन्तर करनेका अभ्यास करना चाहिये।

नामजप विधिपूर्वक होता है या नहीं, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। नामजपके लिये अन्य कर्मोंकी भाँति कोई विशेष विधि-विधान नहीं है। उसके लिये तो नाम और नामीके साथ आत्मीयता और प्रेम ही आवश्यक है। जिसका नाम लेता हूँ, वह मेरा है और मैं उसका हूँ—यह भाव निस्संदेह और दृढ़ होना चाहिये।

ध्यानसहित श्रद्धा और प्रेमपूर्वक किया हुआ जप अनन्त फल देनेवाला है। साधारण जपके साथ उसकी १० गुना और १०० गुना कहकर तुलना नहीं की जा सकती तथा वैसा जप करनेवालेकी दृष्टि भी समय, संख्या और फलपर नहीं रहती। वह तो अपने प्रियतमका स्मरण इसलिये करता है कि उसके किये बिना उसे चैन नहीं पड़ता, वह बिना किये रह नहीं सकता; क्योंकि वह स्मरण ही उसका जीवन है। यदि उसका सहारा न होता तो उसके लिये अपने प्रियके वियोगमें जीवित रहना भी असम्भव हो जाता।

संख्या पूरी करनेके लिये जपमें जल्दीबाजी न करके श्रद्धा-प्रेमपूर्वक जप करना चाहिये।

जप करते समय कोई आ जाय तो उसे भगवान्‌का भेजा हुआ समझकर आदर और प्रेमपूर्वक बात करनी चाहिये। पर ऐसी बातें ही करनी चाहिये, जिनमें उसका हित भरा हो। ऐसी बातोंमें समय नष्ट नहीं करना चाहिये, जो किसी अन्यके दोषों या निन्दा-स्तुतिसे सम्बन्ध रखती हों या जो व्यर्थ चर्चा हो।

साधन किसीके देख लेनेसे प्रकट हो जाता है और न देखनेसे गुप्त रहता है, ऐसी बात नहीं है। साधन वही गुप्त है, जो किसीको दिखानेकी भावनासे न किया जाता हो, जिसके करनेका साधकके मनमें अभिमान न हो, जिसके फलस्वरूप वह किसीसे कुछ आशा न करता हो।

नामजपके अपराध १० बताये जाते हैं*, पर वास्तवमें उसकी महिमापर विश्वास न होना और उसके बदलेमें किसी प्रकारका स्वार्थ सिद्ध करनेकी इच्छा रखना यही अपराधकी जड़ है। दूसरे अपराधोंका जन्म इनके कारण ही होता है।

साधकके मनमें ऐसा भाव नहीं आना चाहिये कि मैं किसी दूसरेका अन्न खाता हूँ। उसे तो समझना चाहिये कि मुझे जो कुछ न्याययुक्त पदार्थ शारीरिक सेवाके लिये प्राप्त होता है, वह सब कुछ भगवान्‌का है और यह शरीर भी उन्हींका है। उन्हींकी वस्तुका उनके आदेशानुसार उनकी प्रसन्नताके लिये सेवन

---

* श्रीसनत्कुमार मुनिने कहा है—

गुरोरवज्ञां साधूनां निन्दां भेदं हरे हरौ।
वेदनिन्दां हरेर्नामबलात् पापसमीहनम्॥
अर्थवादं हरेर्नाम्नि पाखण्डं नामसंग्रहे।
अलसे नास्तिके चैव हरिनामोपदेशनम्॥
नामविस्मरणं चापि नाम्न्यनादरमेव च।
संत्यजेद् दूरतो वत्स दोषानेतान् सुदारुणान्॥

(नारद०, तृ० ८२। २२—२४)

करनेमें मैं तो निमित्तमात्र हूँ। करने-करानेवाले भी वास्तवमें वे ही हैं; क्योंकि जो कुछ करनेकी शक्ति और योग्यता है, वह भी तो उन्हींकी दी हुई है और मैं स्वयं भी उन्हींका हूँ, फिर दूसरा है ही कौन?

निष्कामभावमें तो इसके लिये भी स्थान नहीं है कि मैं साधन करता हूँ, उसका फल मिलेगा और आधा हिस्सा अन्नदाताको मिल जायगा; क्योंकि उसके मनमें तो फलका संकल्प ही नहीं रहता फिर यह शंका कैसे हो कि इसका आधा फल अन्नदाताको मिलेगा। यदि कोई फल होता है और सब-का-सब सभी लोगोंको मिलता रहे तो उसे इसका विचार ही क्यों होना चाहिये?

आहारशुद्धिके विषयमें आपने पूछा सो जिसके आचरण और भाव शुद्ध हैं, जो यथासाध्य अपनी जानकारीके अनुसार पवित्रतापूर्वक भोजन तैयार करता है, उसका बनाया हुआ अन्न शुद्ध है, पर साधकको तो वह तभी स्वीकृत होना चाहिये, जब उसे स्वीकार न करनेपर देनेवालेको दुःख हो और शरीरके लिये उसकी आवश्यकता हो। किसी प्रकारके स्वादसे या मान-प्रतिष्ठासे प्रेरित होकर स्वीकार नहीं करना चाहिये तथा अभिमानसे प्रेरित होकर उसका त्याग भी नहीं करना चाहिये। यदि स्वीकार न करना ही उचित समझा जाय तो बड़ी नम्रताके साथ स्वीकार न करनेका सच्चा कारण निवेदन करके उससे क्षमा माँग लेनी चाहिये ताकि उसके मनपर किसी प्रकारका आघात न पहुँचे।

'वत्स नारद! गुरुकी अवहेलना, साधु-महात्माओंकी निन्दा, भगवान् शिव और विष्णुमें भेद-बुद्धि, वेद-निन्दा, भगवन्नामके बलपर पापाचार करना, भगवन्नामकी महिमाको अर्थवाद समझना, नाम लेनेमें पाखण्ड करना, आलसी और नास्तिकको भगवन्नामका उपदेश देना, भगवन्नामको जान-बूझकर भूलना तथा नामका अनादर करना—इन (दस) भयंकर दोषोंको दूरसे ही त्याग देना चाहिये।'

जिसमें सबका हित हो, वही काम करनेयोग्य है और जिसमें किसीका भी अहित होता हो वह करनेयोग्य नहीं है। इसी सूत्रको लेकर कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय कर लेना चाहिये। जिसके करनेकी शक्ति-सामर्थ्य प्राप्त हो, जिसके करनेका विधान हो, जो वर्तमानमें करना आवश्यक हो और जो हितकर हो, वही करना चाहिये। प्रत्येक कामके विषयमें अलग-अलग कहाँतक लिखा जाय।

आपके मनमें उठनेवाली शंकाओंका उत्तर विचार करनेपर अपने-आप मिल सकता है। उसपर भी कोई बात पूछनेको मनमें उठे तो बिना संकोच पूछ सकते हैं।

आत्मकल्याणका भार तो भगवान्‌ने किसी दूसरेपर नहीं छोड़ा है, अपने ही हाथमें रखा है। जो अपना कल्याण चाहता है, उसका कल्याण करनेके लिये भगवान् हर समय तैयार रहते हैं। अतः साधकको भगवान्‌के सिवा दूसरे किसीसे भी अपने कल्याणकी आशा नहीं रखनी चाहिये।

रामायणमें भगवान्‌ने जो यह बात कही है कि ***'संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि'*** (रामच०, उत्तर० ४५) इसका मुख्य अभिप्राय तो यह मालूम होता है कि जो लोग भ्रमवश भगवान् शंकर और राममें भेदबुद्धि करके राग-द्वेष कर लेते हैं, वे भूल करते हैं। वास्तवमें भगवान् राम और शंकर दो नहीं हैं। दोनों ही परमात्माके स्वरूप हैं। रामभक्तके लिये शंकर रामका प्रेमी है, इसलिये शंकर रामभक्तका गुरु है और शिवभक्तके लिये राम शंकरका प्रेमी है, इसलिये राम शंकरभक्तका गुरु है। जिसको भी रामका प्रेम प्राप्त करना है, उसे उस प्रेमकी शिक्षा भगवान् शंकरसे लेनी चाहिये। उसको वैसा ही भजन, स्मरण और प्रेम करना चाहिये, जैसा भगवान् शंकर करते हैं; अतः

उसके लिये शंकरकी भक्ति आवश्यक है। उसी प्रकार शंकरके लिये रामभक्ति आवश्यक है।

[५८]

सादर हरिस्मरण। आपके दो पत्र मिले, समाचार विदित हुए। उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) भगवान्‌का ध्यान जिस प्रकार अनायास निरन्तर हो सके, उसी प्रकारसे करना चाहिये। यदि निरन्तर न हो सके तो जिस कालमें अवकाश मिले, जब करनेकी रुचि हो, तभी करना चाहिये।

(२) गीताके पठन-पाठनसे सब कुछ हो सकता है। आवश्यकता है विश्वास, रुचि और भावकी। इनकी कमी हो तो किसी भी क्रियासे पूरा लाभ नहीं हो सकता।

(३) गीता पढ़नेके लिये स्थानकी खास आवश्यकता नहीं है, उत्तम भाव चाहिये। उत्तम भाव रहे तो जहाँ पढ़नेका अवसर मिल जाय, वही स्थान उत्तम है।

(४) आप यदि गीताद्वारा ही भगवान्‌की भक्ति करना चाहते हैं, यदि आपकी गीतापर श्रद्धा है तो उसके कथनानुसार अपने जीवनको कामनासे रहित, भगवत्प्रेमसे भरपूर और कर्तव्यपरायण बना लेना चाहिये।

(५) भगवान् श्रीकृष्ण वही हैं, जो आपका इष्ट है, जो आपके इष्टदेव हैं, उन्होंने ही श्रीकृष्णरूपमें प्रकट होकर गीताका उपदेश दिया है—ऐसा दृढ़ विश्वास होना चाहिये; फिर इष्ट बदलनेका प्रश्न ही नहीं आयेगा। भगवान् श्रीकृष्णके अनेक नाम हैं। मन्त्र और नाम जो आपको प्रिय हो, जिसमें आपकी श्रद्धा हो और सुगमतासे मन लगता हो, वही ठीक है।

(६) गीता पढ़नेसे सब कुछ हो सकता है। प्रश्न (२) के उत्तरमें देख लें।

(७) भगवान्‌के सभी रूप अनादि और अनन्त हैं। अतः किसी एकको आदि नहीं कहा जा सकता।

(८) श्रद्धा और प्रेमपूर्वक किया हुआ ओंकारका जप अवश्य स्वीकार होता है। नाड़ीद्वारा, श्वासद्वारा, जिह्वाद्वारा और मनद्वारा चाहे जिसके द्वारा सुगमतापूर्वक किया जाय, कोई आपत्ति नहीं है। हो सके तो मनद्वारा जप करना सबसे बढ़कर है। ध्यान उसका होना चाहिये, जिसको आप सर्वोपरि सब प्रकारसे पूर्ण मानते हैं।

(९) भगवान्‌ने तो मूल गीतामें यह बात कहीं भी नहीं कही है कि गीताके तीन अध्यायके पाठसे गंगा-स्नानका फल होता है। कहीं गीता-माहात्म्यमें कहा हो तो वह बात दूसरी है। गंगा-स्नानका फल भी श्रद्धा और प्रेमके अनुसार होता है एवं गीता-पाठका भी श्रद्धा और प्रेमके अनुसार ही होता है। अतः साधकको फलके प्रलोभनमें न पड़कर कर्तव्य-पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

(१०) गीतामें वह ज्ञान पूर्णरूपसे भरा है, जो परमात्माकी प्राप्तिके लिये आवश्यक है। उसे समझनेके लिये रामायण आदिको पढ़ना भी सहायक है। गीतामें गुरु-महिमा और संत-महिमा अ० ४। ३४; १२। १३ से १९; १३। २५; १४। २२ से २६ तक देखें; और भी स्थान-स्थानमें कही गयी है।

(११) मांस न खानेका संकल्प कर लेनेके बाद बीमारी मिटनेके प्रलोभनमें आकर मांस खाना स्वीकार नहीं करना चाहिये। विवश किसीको कोई नहीं कर सकता, अपनी ही कमजोरीसे मनुष्य विवश हो जाता है। भगवान् तो बड़े दयालु हैं। उनकी ओरसे तो क्षमा है ही, पर साधकको अपनी कमजोरीका दुःख और प्रभुकी महिमाका परिचय होना आवश्यक है।

(१२) गीतामय जीवन बनानेमें कोई पराधीनता नहीं है। नौकरी भी भगवान्‌के नाते कर्तव्य-पालनके लिये करनी चाहिये, रोटीकी गरजसे नहीं; रोटी तो सबको मिलती है। झूठ न बोलनेवालेको अच्छी नौकरी मिल सकती है। लोभका परित्याग कर देनेपर दरिद्रताका सदाके लिये अन्त हो जाता है। लोभ रहते हुए पराधीनता और दरिद्रताका अन्त नहीं होता।

(१३) भगवत्प्राप्ति किसी कर्मका फल नहीं है, श्रद्धा-प्रेमका फल है। सत्संग किसी सोसाइटीका नाम नहीं है। सत् तत्त्व भगवान् हैं, उनमें प्रेमका होना ही मुख्य सत्संग है। इसीलिये भगवत्प्राप्त पुरुषोंके संग तथा भगवान्‌की चर्चाको भी सत्संग कहा गया है। भगवत्प्राप्तिके लिये श्रद्धापूर्वक किया हुआ साधन नष्ट नहीं होता—यह सर्वथा ठीक है। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक किया हुआ भजन-स्मरण कर्म नहीं है, उपासना है। दूसरे कर्मोंमें जो निष्कामभाव है, वह भी साधन है, क्रिया नहीं।

(१४) एक पिताके अनेक लड़कोंका स्वभाव विभिन्न होता है। उसका मुख्य कारण तो उनके पूर्वजन्मके संस्कार हैं ही। इसके सिवा वर्तमानका संग, शिक्षा एवं परिस्थिति भी कारण हैं।

(१५) गीतामें मन लगाना बहुत अच्छा है। गीताध्ययन भगवान्‌को बहुत प्रिय है, यह सब ठीक है। किंतु उसमें कही हुई बातको काममें लाना ही उसका वास्तविक अध्ययन है। इस बातको नहीं भूलना चाहिये।

(१६) भगवान्‌की शरणमें जाना ही मनुष्य-जीवनका मुख्य उद्देश्य होना चाहिये। पर इसका सम्बन्ध किसी भी वर्ण या आश्रमसे नहीं है। कोई भी वर्ण या आश्रम भगवान्‌की शरणमें जानेसे नहीं रोक सकता। अर्जुन भी तो गृहस्थ थे, क्या वे भगवान्‌के शरणागत नहीं थे? जो वर्ण, आश्रम या परिस्थिति

अपने-आप प्राप्त हो, उसे भगवान्‌का विधान मानकर उनकी प्रसन्नताके लिये उनके आज्ञानुसार कार्य करना चाहिये।

भगवान्‌के सिवा किसीको अपना परम हितैषी नहीं मानना, प्रत्येक परिस्थितिमें उनपर निर्भर रहना,ममता और अभिमानका सर्वथा त्याग कर देना, हर समय उनके नाम और रूपको स्मरण रखना—ये सभी भगवत्-शरणागतिके अंग हैं। स्त्री, पुत्र, धन और मकान आदिका बन्धन उनको अपना माननेसे और उनके द्वारा सुखकी आशा रखनेसे होता है; अन्यथा नहीं।

(१७) जिसकी सांसारिक वस्तुओंमें आसक्ति न रही हो, उसे पागल वे ही लोग कहते हैं, जो स्वयं सांसारिक भोगोंमें आसक्त होकर, मोह-मायामें फँसकर पागल हो रहे हैं। अतः साधकपर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये।

(१८) भगवान्‌की पूजा गीता अध्याय १८ श्लोक ४६ के अनुसार सुगमतासे की जा सकती है। किसी साकार स्वरूपकी मानस-पूजा करनी हो तो उसकी विधि 'श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश' नामक पुस्तकमें देख सकते हैं जो गीताप्रेसमें उपलब्ध है।

(१९) भगवान्‌का चिन्तन, जप, पाठ स्वाध्याय आदि जहाँ भी सुगमतासे किया जा सके, करना चाहिये। स्वास्थ्यके लिये खुली हवा अच्छी है, उसका कोई विरोध नहीं है; पर वह न मिले तो प्राप्त स्थानमें भी भजन-ध्यान तो करना ही है।

(२०) नदी-किनारेकी विशेषता इसीलिये है कि वहाँ शुद्ध हवा और जल सुगमतासे मिल जाता है; एकान्तमें विघ्न नहीं आते। प्रधानता तो श्रद्धा और प्रेम-भावकी है।

(२१) जप गंगाके भीतर खड़े होकर भी किया जा सकता है, बाहर किनारेपर स्वच्छ स्थानपर बैठकर भी किया जा सकता है। जिस प्रकार सुगमतासे मन लगे वैसे ही करना चाहिये।

(२२) '**सोऽहम्**' का जप अद्वैतभावके साधकोंके लिये उपयोगी है, भक्तिभाववालोंके लिये नहीं।

(२३) '**अनहद**' शब्दको सुननेका अभ्यास रातमें दो या तीन बजे जब हल्ला-गुल्ला सर्वथा शान्त हो, उस समय करना विशेष अच्छा रहता है; पर आलस्य आता हो तो ठीक नहीं होता। जितनी देर सुगमतासे शान्तिपूर्वक साधन हो सके, उतने ही समयतक करना ठीक रहता है। ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति और इष्टके दर्शनका सम्बन्ध तो श्रद्धा, ज्ञान और प्रेमसे है। केवल उपर्युक्त अभ्याससे विशेष लाभ नहीं।

(२४) सादगीके रहन-सहनसे अभिप्राय यह है कि किसी प्रकारकी शौकीनी, ऐश-आराम और स्वादकी भावना न रहे; व्यर्थका खर्च न किया जाय। जूते कपड़ेके भी मिलते हैं। चमड़ेके जूतोंकी अपेक्षा उनपर खर्च कम लगता है और वे पवित्र भी होते हैं।

(२५) गुरु वही है, जो भगवान्‌की ओर लगानेमें सहायक हो। गायत्रीका उपदेश देनेवाला अथवा विद्या पढ़ानेवाला भी गुरु है। जिन्होंने यह कहा कि आप गीताको नहीं समझ सकेंगे, उनको या तो गीताके महत्त्वका ज्ञान नहीं होगा या आपकी योग्यता उन्होंने वैसी नहीं समझी होगी। क्यों मना करते हैं—यह तो वे ही बता सकते हैं, जिन्होंने मना किया था। मैं क्या लिखूँ? भगवान् सबके परम गुरु हैं। अतः उनका आश्रय लेकर आप रुचिके अनुसार साधन कर सकते हैं। इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

✦✦

[५९]

आपके पत्रका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) जिस मन्त्रका निरन्तर जप किया जाय, उसके लिये प्रकारकी कोई खास बात नहीं है। श्वाससे, नाड़ीसे, जीभसे—

जैसे भी सुगमतासे किया जा सके, वैसे ही करना उत्तम है। भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम बढ़नेसे दूसरी ओरसे मन अपने-आप हट जाता है। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मनसे जप करना सबसे उत्तम है।

(२) भगवान् श्रीशंकर श्रीरामके भक्त हैं। श्रीराम उनके इष्ट हैं। रामायणमें श्रीरामके चरित्रका वर्णन है, इस कारण वे उनके पाठसे प्रसन्न रहते हैं।

(३) '**ॐ नमः शिवाय**'—यह पौराणिक मन्त्र है। शिवजीके उपासकको इस मन्त्रका जप करना चाहिये। यदि 'शिव', शिव' इस प्रकार उनके नामका ही जप किया जाय तो वह भी अच्छा है। जैसी रुचि हो, उसी प्रकार करना चाहिये।

(४) रामायणके मासपारायण, नवाह्नपारायण आदि विशेष अनुष्ठान हैं। जिनका जैसा विश्वास है, उनके लिये वैसे ही करना ठीक है। किंतु अर्थ समझकर प्रेमपूर्वक पाठ करना सभीके लिये सर्वोत्तम है। इसमें किसीका विवाद नहीं है।

(५) सुन्दरकाण्डकी विशेषता सकामभाववाले मानते हैं, या श्रीहनुमान्‌जीके भक्त मानते हैं; क्योंकि उसमें हनुमान्‌जीकी महिमाका अधिक वर्णन है। मेरी मान्यतामें तो सभी काण्ड अच्छे हैं।

(६) संध्या एक नित्यकर्म है, उसे करनेका समय तो निकालना ही चाहिये। नौकरीका समय तो परिमित और निश्चित रहता है, उसमें परवशताकी कोई बात नहीं है।

(७) बगीचे या जंगलमें आसनकी व्यवस्था न हो सके तो कोई बात नहीं। स्वच्छ जगहमें बैठकर भी भजन-स्मरण किया जा सकता है।

(८) एकादशीका व्रत यदि बीमारीमें छूट गया तो कोई अपराध नहीं है। कमजोरीमें उपवास नहीं करना चाहिये, भजन-स्मरणके नियमोंका पालन करना चाहिये । नियम-पालनका नाम ही व्रत है।

(९) रावणका पिता विश्रवा था, यह रामायणमें स्पष्ट लिखा हुआ है। इसमें विवादकी कोई बात नहीं है। बहस करना साधकके लिये सर्वथा अनावश्यक है। अतः आपको इस झंझटमें नहीं पड़ना चाहिये। ग्रन्थोंको झूठा बतानेवाले उनके मर्मको नहीं समझते। उन भोले भाइयोंपर क्रोध नहीं करना चाहिये।

(१०) चित्र बनानेवाले भगवान्‌की बातें ग्रन्थोंमें पढ़-सुनकर अपने-अपने भाव और समझके अनुरूप चित्र बनाते हैं। उनको भगवान्‌के स्वरूपका तो प्रत्यक्ष है नहीं।

(११) चारों वेद अनादि हैं। ब्रह्माजीके मुखसे तो उनका प्राकट्य माना जाता है। ब्रह्माजीने उनकी रचना की—ऐसी बात नहीं है। गायत्री देवी ब्रह्माजीकी पत्नी हैं, इसलिये उनको वेदमाता कहना उचित ही है। ब्रह्माजीकी पूजा पुष्करमें होती है। उनकी मूर्ति चार मुखोंवाली है।

(१२) मन्त्रमें शक्ति साधकके श्रद्धा-विश्वासके अनुसार प्रकट होती है। गायत्री-मन्त्र, गीता और इष्टके नाममन्त्र—सभी ठीक हैं; सबमें ही एक प्रभुकी शक्ति है। कमी-वेशीकी कल्पना साधक अपने श्रद्धा और विश्वासके अनुसार कर लेता है।

(१३) पार्वती भगवान् शंकरकी अर्द्धांगिनी हैं। साधक अपनी श्रद्धा और प्रेमके अनुसार जैसा ठीक समझें वैसा भाव कर सकते हैं। इसमें आपत्तिकी कोई बात नहीं है।

(१४) उपवास आदिका विधान ऋषियोंने अपनी-अपनी समझके अनुसार किया है। इसमें सबका एकमत नहीं हो सकता। अतः जिस साधकका जिसमें विश्वास हो, उसके लिये वही उत्तम है। चतुर्दशीको शिव-पार्वतीका विवाह हुआ था—ऐसा कहा जाता है। इस कारण शिव-भक्त उस दिन व्रत किया करते हैं।

[६०]

सादर विनयपूर्वक प्रणाम! आपका पत्र मिला, समाचार ज्ञात हुए। आपकी बातोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) दुविधामें कभी शान्ति नहीं मिलती। सांसारिक भोगवासनाओंके रहते हुए मनुष्य कभी दुविधासे छूट नहीं सकता। अतः शान्तिके इच्छुकको सांसारिक इच्छाका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

(२) आप जो यह चाहते हैं कि भगवान्‌को पानेकी इच्छाके सिवा और कोई इच्छा मेरे मनमें न रहे, यह तो बहुत ही उत्तम है; पर यह आप केवल विचारके बलपर कहते हैं। यह यदि आपकी वास्तविक इच्छा होती तो दूसरी इच्छाका अपने-आप अन्त हो जाता; क्योंकि जो सच्ची इच्छा होती है, वह जबतक पूरी नहीं होती तबतक मनुष्यको चैन नहीं पड़ता। किसी प्रकारका भोग उसे रुचिकर नहीं होता।

(३) आपने लिखा कि मैं अपने मनको बहुत समझाता हूँ, सो मनको समझानेसे काम नहीं चलेगा, आप स्वयं समझिये। मन बेचारा तो आपकी अनुमति पाकर ही विषयोंकी ओर दौड़ता है। आप स्वयं नाना प्रकारके भोगोंको सुखरूप मानते हैं, तब आपका मन उनकी ओर जाता है। आपकी बुद्धि आपको उनकी अनित्यता, क्षणभंगुरता और परिणाम-दुःखताका भी अनुभव कराती है; पर आप उसकी ओर देखते ही नहीं, इन्द्रियोंके ज्ञानपर विश्वास करके विषय-भोगोंमें लगे रहते हैं और दोष मनको देते हैं।

(४) पूर्वजन्मका प्रारब्ध किसीके भजन-स्मरणमें बाधा नहीं दे सकता। भगवान्‌की मर्जी भी ऐसी नहीं है कि प्राणी संसारमें फँसा रहे, मेरी ओर न लगे; प्रत्युत पूर्वकृत कर्मोंके फलस्वरूप जो कुछ मिला है और मिलेगा, उसे भगवत्प्राप्तिके लिये साधन-

सामग्री समझनी चाहिये। भगवान्‌ने जो प्राणीको यह मनुष्य-शरीर और सामग्री दी है, वह अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये ही दी है। अतः भजन न बननेमें साधकको अपना ही दोष समझकर उसे दूर करना चाहिये। पूर्वकृत कर्मोंका और मनका दोष या प्रभुकी मर्जीका बहाना लेकर अपने मनको निराश और निरुत्साह नहीं करना चाहिये।

(५) भगवान्‌की कृपा तो अपार है। आप जितनी मानते हैं, उससे भी बहुत अधिक है। उसका आदर करना चाहिये। भगवान्‌का कृतज्ञ होना चाहिये और पद-पदपर उनकी कृपाका दर्शन करके उनके प्रेममें विभोर होते रहना चाहिये।

(६) पर-स्त्रीपर बुरी दृष्टि होनेका हेतु एकमात्र उसमें सुखबुद्धि होनेके कारण आसक्ति है। उसका परिणाम जो प्रत्यक्ष और अनुमानसे दुःख है, उसपर अविश्वास और बेपरवाही ही इस सुखकी प्रतीतिको बढ़ानेवाली है। इस सुख-प्रतीतिका सर्वनाश तो भगवत्प्रेमके प्राकट्यसे ही हो सकता है। जब मनुष्यके जीवनमें भगवान्‌का प्रेम, जो नित्य आनन्दस्वरूप है, जाग्रत् हो उठता है, तब तो सब प्रकारसे रस नीरस हो जाते हैं; पर उसके पहले विषयरसका सर्वथा नाश नहीं होता। अतः साधकको चाहिये कि भगवान्‌पर विश्वास करके एकमात्र उन्हींको अपना सर्वस्व समझे और उनमें प्रेम करे। वह प्रेम शुद्ध हृदयमें प्रकट होता है। हृदयकी शुद्धिके लिये यह परम आवश्यक है कि साधक न तो किसीका बुरा करे और न चाहे तथा ईश्वरके नामका जप निरन्तर करनेकी चेष्टा करे। कामके वेगको रोकनेके लिये परिश्रम, संयम, सदाचार, सेवा और विषयोंमें दोषदर्शन भी आवश्यक है। यदि इनका पालन निष्कामभावसे किया जाय तो इनसे अन्तःकरण भी शुद्ध होता है।

परिश्रमी मनुष्यको बुरे संकल्पोंके लिये अवकाश नहीं मिलता। संयमसे मन वशमें होता है। सदाचार बुरी प्रवृत्तिको रोकता है और सेवाभावसे सांसारिक सुखकी प्रवृत्तिका नाश होता है। विषयोंमें दोषदृष्टि करनेसे मनमें वैराग्य हो जाता है।

(७) काम-वासनाके नाशके लिये सर्वोत्तम अनुष्ठान तो एकमात्र भगवान्का प्रेमपूर्वक स्मरण ही है।

(८) गीता और रामायणके पाठका अनुष्ठान कैसे करना चाहिये, यह आप मानसांक और गीता-तत्त्वांकमें देख सकते हैं।

(९) पश्चात्तापसे बढ़कर कठोर प्रायश्चित्त मेरी समझमें कोई नहीं है। जिस पापकर्मके लिये मनुष्यको सच्चा पश्चात्ताप हो जाता है, वह उसके जीवनमें प्रायः दुबारा नहीं आ सकता। यह प्राकृतिक नियम है।

✦✦

[६१]

सादर हरिस्मरण! आपका कार्ड मिला, समाचार विदित हुए। उत्तर इस प्रकार है—

(१) राजयोग सिद्ध हो जानेके बाद प्राणायाम आदिकी क्रिया करनी नहीं पड़ती, स्वभावसे ही होने लगती है। जिसमें करना पड़ता है, वह राजयोग नहीं है, हठयोग है। पुस्तक जबतक मन बहलानेके लिये या मनकी इच्छापूर्तिके लिये पढ़ी जाती है, उसके अर्थको समझकर उसके अनुसार जीवन नहीं बनाया जाता, तबतक उससे विशेष लाभ नहीं होता। इसी प्रकार सद्भावरहित क्रियासे भी विशेष लाभ नहीं होता। अतः साधकको चाहिये कि पुस्तकमें लिखे हुए उपदेशको समझकर उसके अनुरूप अपना जीवन बनाये एवं क्रियाके साथ सद्भावनाकी वृद्धि करे। किसी भी क्रियाका उद्देश्य सांसारिक सुखकी प्राप्ति न हो, बल्कि

भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये कर्तव्य-पालन हो। ऐसा होनेपर पुस्तक पढ़ना और क्रिया दोनों ही साधकके लिये हितकर हो सकती हैं।

(२) जीव शरीरसे निकलकर मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके साथ प्राणोंके सहारे अन्तिम वासना और चिन्तनके अनुसार देहान्तरमें चला जाता है (गीता ८।६; १५।७-८)। सुखकी इच्छा प्रत्येक प्राणीको है, दुःख कोई नहीं चाहता, पर अज्ञानवश दुःखको ही सुख मानकर उसे चाहता और पकड़नेकी चेष्टा करता है। इस कारण सुख न मिलकर उसे दुःख ही मिलता है; क्योंकि जिन-जिन विषयोंको वह सुखप्रद समझकर चाहता है, वे या तो मिलते ही नहीं या मिलते हैं तो रहते नहीं। इस प्रकार उनका वियोग निश्चित है। अन्तमें वे दुःख देकर चले जाते हैं।

(३) पुनर्जन्मका प्रमाण गीतादि शास्त्र हैं (गीता २।१२-१३, २२; १३।२१;१४।१४-१५, १८) तथा मनुष्यों और अन्य प्राणियोंकी जाति, आयु, भोग और प्रकृतिका एक-दूसरेसे न मिलना भी पुनर्जन्मका प्रमाण है। आप भूतकालमें कौन थे एवं भविष्यमें क्या होंगे—यह तो तभी मालूम हो सकता है, जब आप सब प्रकारकी कामनाका त्याग करके मनको एकाग्र कर सकें और ध्यानयोगद्वारा इसे जाननेका प्रयत्न करें। पर इसे जाननेपर भी लाभ क्या होगा, यह विचारणीय है।

मुसलमान पुनर्जन्म नहीं मानते, यह उनकी मर्जी है। माननेमें सभी स्वतन्त्र हैं, पर किसीके न माननेसे सत्यका नाश नहीं हो सकता।

(४) बीज और वृक्षकी परम्परा अनादिकालसे चली आती है। इसके पूर्वापरका निर्णय करना अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार है। इसका निर्णय साधकके लिये आवश्यक भी नहीं है। कुछ मानना ही हो तो पहले बीजका होना मानना ही उचित प्रतीत

होता है। सर्वशक्तिमान् भगवान् बिना वृक्षके भी बीजको बना सकते हैं। प्रलयकालमें भी बीजरूपमें सृष्टि सुरक्षित रहती है। उसीसे उसका विस्तार होता है।

(५) मरता है शरीर, उसीको अपना स्वरूप मान लेनेके कारण मृत्युसे भय होता है। अपनेको शरीरसे अलग अनुभव कर लेनेपर उस भयकी निवृत्ति हो जाती है। वास्तवमें तो शरीरकी मृत्यु क्षयरूपमें प्रतिक्षण हो रही है। यदि यह बात ठीक समझमें आ जाय तो इस मृत्युमय शरीरसे साधक असंग हो सकता है।

(६) सर्वज्ञ परमात्माका ज्ञान उस सर्वज्ञकी कृपासे वह जिसको कराता है, उसीको होता है। वह ज्ञान होनेके बाद ज्ञान किसको हुआ—इसका पता नहीं चलता; क्योंकि यह कौन किसको बतावे?

(७) भगवान् अनेक नहीं होते, एक ही भगवान्के नाम और रूप अनेक हो सकते हैं। उनमेंसे जिस साधकको जो नाम-रूप प्रिय हो, जिसपर उसकी यह श्रद्धा हो कि यही सर्वथा पूर्ण है और इसके स्मरण-चिन्तनसे मुझे सत्यका साक्षात्कार और असार-संसारसे मोक्षकी प्राप्ति निश्चित है, वही नाम-रूप उसे मोक्षप्रद हो जायगा। अतः इस रहस्यको समझकर पहले अपने श्रद्धा-विश्वासको दृढ़ करना चाहिये।

× × × ×

✦✦

[६२]

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार विदित हुए। उत्तर इस प्रकार है—

× × × × दुःख संसारमें नहीं है। प्राणी स्वयं ही अपनी भूलसे अज्ञानके कारण दुःख भोगता रहता है। जिसको हम दुःख

कहते हैं, वह दुःखरूप प्रतिकूल परिस्थिति तो भगवान्‌की वह कृपा है, जो संसारमें फँसे हुए प्राणीको उसमें दोष दिखाकर सांसारिक सुखकी दासतासे छुड़ाती है। अतः साधकको दुःखरूप प्रतिकूलतासे घबराना नहीं चाहिये। धैर्यपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करते रहना चाहिये।

आपने लिखा कि पूर्वजन्मके पापोंके कारण मेरी जबान खराब है सो ऐसी बात नहीं है। जबानको तो आपने स्वयं ही अनुचित बात कहनेकी आदत डालकर खराब कर रखी है। इसमें न तो पूर्वजन्मका दोष है, न जबानका ही। अतः आपको अपना जीवन संयमी बनाना चाहिये। जबान भगवान्‌की कृपासे प्राप्त यन्त्र है। उससे आप जैसा चाहें बोल सकते हैं। अतः भगवान्‌के आज्ञानुसार उससे सत्य, प्रिय और हितकर शब्द बोलिये और स्वाध्याय कीजिये। जिनसे किसीको उद्वेग हो, बुरा लगे—ऐसे वचन भूलकर भी न बोलिये (गीता १७। १५)-यही वाणीका सदुपयोग है। इससे वाणी अपने-आप शुद्ध हो जाती है।

जो व्यक्ति आपकी बातोंपर हँसते हैं, उनसे न तो द्वेष करना चाहिये न उनको बुरा या दोषी ही समझना चाहिये। उनकी बातोंपर धैर्यपूर्वक विचार करके जो न्यायसंगत और हितकर हो, उसे सरलतापूर्वक मान लेना चाहिये तथा जो अनुचित हो, उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये। दुःख करना तो सर्वथा ही बुरा है; उससे कोई लाभ नहीं होता।

हर एक मनुष्य अपना जीवन जब चाहे उज्ज्वल बना सकता है। इससे निराश होना बड़ी भारी भूल है। जीवनको मलिन किसी दूसरेने नहीं बनाया है। प्राणी स्वयं ही अपने अभिमान और प्रमादसे जीवनको मलिन बना लेता है। अतः उसे उज्ज्वल बनाना उसके हाथमें है। इसमें कोई कठिनाई नहीं है।

आप अपने दुःखका कारण दूसरे लोगोंको मानते हैं, यह भूल है। अपना मूल्य तो आपने स्वयं ही घटा रखा है। आप भगवत्कृपासे प्राप्त सामर्थ्यका सदुपयोग करें तो अपने-आप मूल्य बढ़ जा सकता है और जीवन आनन्दमय बन सकता है।

भगवान् बुद्धकी भाँति भ्रमण करना तो बड़े ही सौभाग्यकी बात है। वैसा वैराग्य हो जानेपर तो आपको कोई दुःख देनेवाला दिखायी ही नहीं देता, फिर आप इस संसारसे असंग हो जाते और प्रभुसे आपका अटल प्रेम हो जाता; किंतु आपमें वैराग्यकी कमी है।

आपका मन किसी काममें नहीं लगता, इसका एकमात्र कारण यही हो सकता है कि आप भगवत्कृपासे प्राप्त ज्ञानका सदुपयोग नहीं करते। इन्द्रियोंके वशमें होकर वह काम भी कर लेते हैं, जिसको आप स्वयं ही बुरा समझते हैं। यही ज्ञानका दुरुपयोग है। हर एक मनुष्य जानता है कि किसीको कटुशब्द नहीं कहना चाहिये, किसीका अपमान नहीं करना चाहिये, किसीकी भी निन्दा नहीं करनी चाहिये, किसीपर क्रोध नहीं करना चाहिये इत्यादि; क्योंकि जब कोई दूसरा हमपर क्रोध करता है या हमें कटुशब्द कहता है, तब हमें बुरा मालूम होता है; फिर भी हम दूसरोंपर क्रोध करते हैं, उनको कटुशब्द कहते हैं। यही ज्ञानका दुरुपयोग है। अतः इस विषयमें खूब सावधान रहना चाहिये।

शान्ति न मिलनेका एकमात्र कारण सांसारिक सुखकी कामना और दूसरोंको दुःख देना है। ऐसा न करनेपर शान्ति तो स्वाभाविक ही मिल सकती है; क्योंकि वह सर्वत्र परिपूर्ण है।

समाचारपत्रोंमें यदि आप अनेक प्रकारके अत्याचारोंकी बात पढें तो तत्काल ही अपने जीवनका अध्ययन करें और सोचें कि ऐसा अपराध मुझसे कहीं किसीके साथ मनसे या कार्यरूपमें बनता है या नहीं। यदि बनता हो तो तत्काल उसका त्याग कर

दें और जिसके साथ बुराई की हो, उससे क्षमा माँग लें। दूसरे क्या-क्या भूल कर रहे हैं, क्यों कर रहे हैं—इसे सोचनेमें आपको कोई लाभ नहीं है, बल्कि हानि ही है।

आपने पूछा कि यह संसार क्या है, सो वास्तवमें तो यह उस सर्वसमर्थ सर्वान्तर्यामीकी लीलास्थली है। अतः साधकको चाहिये कि इसके स्वामीकी प्रसन्नताके लिये स्वामीको निकट समझते हुए, अपने स्वाँगके अनुसार खेल करे। जगत् परिवर्तनशील और नाशवान् है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

भोगोंसे घृणा न करके उनमें ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करना अधिक उपयोगी है। किसी प्रकारके सांसारिक भोगकी इच्छा ही प्राणीको उसका दास बना देती है। इस कारण वह अपने नित्य-स्वामी परमेश्वरका दास नहीं बन पाता।

आजकल विवाह करनेमें जो दोष आ गये हैं, उनको आप अपने जीवनमें न आने दें। विवाहको कर्तव्य समझकर भगवान्‌के आज्ञानुसार एक सात्त्विक गृहस्थकी भाँति संयमपूर्वक जीवन बितावें, इसमें कोई कठिनाई नहीं है। अधिक संतान उत्पन्न करना बुरा समझें तो न करें। विचारद्वारा जिस काम-वासनाको हम न मिटा सकें, उसको संयमपूर्वक नियमित स्त्रीसहवासद्वारा मिटानेके लिये गृहस्थ-जीवन है। साधकके लिये यह भी काम-वासना मिटानेका एक उपाय है।

बालक अपना प्रारब्ध साथ लेकर आते हैं। उनकी चिन्ता करना व्यर्थ है। साधकको तो चाहिये कि वह अपने कर्तव्यसे न चूके; फिर जो कुछ होगा, वह ठीक ही होगा। निर्वाह तो सबका वे भगवान् ही करते हैं, जिनका यह विश्व है। मनुष्य तो निमित्तमात्र ही है। वह ऐसा अभिमान व्यर्थ ही करता है कि मैं निर्वाह करता हूँ।

अन्नके लिये भटकना उसे ही पड़ता है, जो आवश्यक श्रम नहीं करता एवं दूसरोंसे स्वार्थ सिद्ध करनेकी इच्छा रखता है। बुद्धिका सदुपयोग करनेवालेकी बुद्धि कभी विपरीत नहीं होती। अतः उसके लिये कोई भी समय या परिस्थिति हानिकारक नहीं होती। हर प्रकारसे अपमान उसीका होता है, जो स्वयं गलत रास्तेसे चलता है।

इस युगमें ही क्यों, कभी भी भगवान्‌के सिवा दूसरा कोई किसीका परम हितैषी नहीं है। अतः साधकको किसीसे भी किसी प्रकारकी इच्छा नहीं करनी चाहिये और एकमात्र भगवान्‌को ही अपना सर्वस्व मानकर उनपर ही निर्भर हो जाना चाहिये, इसीमें मनुष्य-जीवनकी सार्थकता है।

संसारसे छूटनेका उपाय, इससे जो कुछ लिया है उसे लौटाकर उऋण हो जाना है, जो कि कर्तव्य-पालनद्वारा बड़ी सुगमतासे हो सकता है। आपका कोई भी ऐसा कर्तव्य नहीं है, जिसे आप नहीं कर सकते और जिसके करनेके साधन आपके पास न हों। इस दृष्टिसे कर्तव्य-पालन बड़ा ही सुगम है।

आपके अन्य प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास करके अपने-आपको उनके समर्पण कर देना अर्थात् ऐसा मान लेना कि मैं उन भगवान्‌का हूँ, जिनका यह समस्त जगत् है और एकमात्र भगवान् ही मेरे सब कुछ हैं। यह शरीर जिसको मैं अपना समझता हूँ, यह भी भगवान्‌का है, यह मुझे भगवान्‌की कृपासे उनकी सेवाके लिये मिला है—यह भाव दृढ़ होनेपर बड़ी सुगमतासे भगवान्‌का निरन्तर भजन-स्मरण तथा उनमें प्रेम भी हो सकता है।

(२) संसारसे किसी प्रकारका सुख न चाहनेसे और अपनी शक्तिद्वारा उसकी सेवा कर देनेसे अपने-आप उस संसारसे माना

हुआ सम्बन्ध छूट सकता है अर्थात् उसके प्रति ममताका नाश हो सकता है। अपना नाम भी तो संसारका ही अंश है। जबतक उसकी इच्छा है, तबतक आप संसारसे सम्बन्ध कैसे छोड़ सकेंगे? यह तो आपको संसारसे और भी अधिक जकड़कर बाँध सकता है। अतः यदि भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़ना है और संसारसे तोड़ना है तो अपने नाम या यशको विषके समान समझकर उसकी इच्छाका त्याग कर दीजिये और एकमात्र भगवान्‌के प्रेमको छोड़कर और किसी भी वस्तुसे प्रेम मत कीजिये।

(३) किसीपर भी अपना कोई अधिकार न मानना और किसीसे भी कुछ न चाहना, दूसरेके दोषोंकी ओर न देखना, अपने कर्तव्यका पालन करते रहना, सबका आदर-सत्कार करना एवं परेच्छासे जो भी मनके प्रतिकूल घटना हो, उसे भगवान्‌का विधान मान लेना—यह क्रोधको जीतनेका बड़ा ही सरल और सुगम उपाय है। अपने मनके अनुकूल स्वार्थ सिद्ध करनेकी इच्छा रखना ही क्रोधकी जड़ है।

(४) कामनाका त्याग कर देनेके बाद आप कामी कैसे रहेंगे? भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये कर्तव्य-पालनद्वारा सबका हित करना—यही बड़ी-से-बड़ी सेवा है। भगवान्‌का नाम लेना और गुणोंका गान करना—यही तो जीभका सर्वोत्तम सदुपयोग है। विवाहको झंझट न मानकर कर्तव्य समझना चाहिये और पत्नीका हित तथा गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए पितृ-ऋणसे मुक्त हो जाना चाहिये। शादी करनेसे घृणा तो अपने शरीर-सुखके लोभके कारण और पारिवारिक भरण-पोषणकी झंझटसे भयभीत होनेके कारण हुई है, जो सर्वथा निराधार है। वास्तवमें वैराग्य होता तो जीवनमें क्रोध कहाँसे आता? शान्तिका उपाय एकमात्र भगवान्‌का आश्रय (शरण) है।

आवश्यक बातोंका उत्तर यथास्थान लिखा गया है। मैं किसीका गुरु बननेका अधिकारी नहीं हूँ। अतः कृपा करके मुझे 'गुरुदेव' लिखकर लज्जित न करें।

[६३]

सप्रेम राम-राम। आपका पत्र मिला। आपने अपने योग्य खास-खास बातें लिखवाकर भिजवानेके लिये लिखा, सो ठीक है। नीचे खास-खास बातें लिखी जाती हैं। यदि हो सके तो उन्हें काममें लानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

१—भगवान्‌के नामका नित्य-निरन्तर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभाव और गुप्तरूपसे मनसे स्मरण करना। यदि मनसे स्मरण न हो सके तो श्वासद्वारा या वाणीद्वारा जप करना चाहिये।

२—भगवान्‌के साकार या निराकार अपने इष्टदेवके स्वरूपका ध्यान श्रद्धा-विश्वास और प्रेमपूर्वक करना। स्वरूपका ध्यान करते समय उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यकी ओर विशेष लक्ष्य रहना चाहिये।

३—अपनेको मनसे भगवान्‌के समर्पण करके वे करायें, वैसे ही हँसते-हँसते करना और उनके प्रेममें मग्न हो जाना चाहिये। जब यह स्थिति हो जाती है, तब परमात्माको तत्त्वसे जान लेनेपर तुरंत ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

४—महापुरुषोंका संग श्रद्धा और विश्वासपूर्वक करना चाहिये। श्रद्धाकी कसौटी यह है कि उनकी आज्ञाके अनुसार प्रसन्नतापूर्वक बाजीगरके बंदरकी भाँति नाचा जाय। इससे भी बढ़कर बात यह है कि पतिव्रता स्त्रीकी भाँति उनके संकेतानुसार चला जाय। उससे भी बढ़कर यह है कि हम सूत्रधारकी कठपुतलीकी तरह उनके संकेतपर नाचते रहें। आनन्द और उत्साह साथमें रहना चाहिये।

५—सत्पुरुषोंका संग करना। सत्संगके अभावमें गीता, रामायण आदि सच्छास्त्रोंका या महापुरुषोंके लेख-पत्रादिको पढ़ना तथा उनका अर्थ और भाव समझकर उसके अनुसार अपना जीवन बनाना।

६—ज्ञान, आचरण, पद, गुण और अवस्थामें या और भी किसी प्रकारसे जो श्रेष्ठ हों, उनके चरणोंमें प्रतिदिन नमस्कार करना तथा उनकी आज्ञाका पालन करते हुए उनकी यथायोग्य सेवा करना।

७—दुःखी, अनाथ और आपत्तिग्रस्त लोगोंके दुःख-निवारणके लिये यथाशक्ति तन, मन, धन और जनसे उनका हित करना।

८—संसार और शरीरको नाशवान्, क्षणभंगुर, अनित्य और दुःखरूप समझकर अभ्यास और वैराग्यद्वारा मन और इन्द्रियोंको विषयोंसे रोककर भगवान्‌में लगाना।

जबतक शरीर है, तबतक ऊपर लिखी हुई बातोंको काममें लानेकी पूरी चेष्टा करनी चाहिये।

✦✦

[६४]

आपका पत्र मिला, उत्तर इस प्रकार है—

१—गोस्वामीजी श्रीतुलसीदासजीने श्रीरामचरितमानसमें—

कह मुनीस हिमवंत सुनु जो बिधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार॥

(बालकाण्ड, दोहा ६८)

यह लिखा है तथा फिर—

मंत्र महामनि बिषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के॥

(बालकाण्ड ३१।५)

—ऐसा लिखा है।

ये दोनों ही ठीक हैं। ऊपरके दोहेका भावार्थ यह है कि विधाताने जो कुछ ललाटमें लिख दिया है, उसको देवता, राक्षस, मनुष्य, नाग और मुनि—कोई भी नहीं मेट सकते। चौपाईमें, दोहेमें कही गयी बातका विरोध नहीं किया गया है; भगवान्‌के गुणगानसे विधाताके लेखके बदल जानेकी बात कही गयी है, जो ठीक ही है। भगवान्‌के गुणगानसे तो सब कुछ हो सकता है; किंतु ऊपर बतलाये हुए प्राणियोंकी सामर्थ्य नहीं है कि वे विधाताके लेखको मिटा सकें।

२—पूजिअ बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना॥

(रामचरितमानस, अरण्य० ३३।१)

इस चौपाईमें गोस्वामीजीने ब्राह्मणोंका पक्षपात किया हो, ऐसी बात नहीं समझनी चाहिये। ब्राह्मण-जातिका महत्त्व जनानेके लिये ही गोस्वामीजीने यह बात कही है। शील-गुणहीन भी ब्राह्मण जन्मसे ब्राह्मण होनेके कारण पूजनीय है, जातिकी दृष्टिसे शूद्र पूजनीय नहीं है—यहाँ जातिका महत्त्व समझाया गया है। जातिके कारण इतना अन्तर होनेपर भी मुक्तिके लिये गुण ही प्रधान है और मूल्यवान् वस्तु मुक्ति ही है। मुक्ति तो गुण, ज्ञान और आचरणसे होती है, न कि जातिसे—भले ही कोई ब्राह्मण हो अथवा शूद्र ही हो।

और—

३—'**बिना प्रेम रीझै नहीं नागर नन्दकिसोर॥**'

'**तुलसी अपने रामको रीझ भजो या खीज।**
खेत पड़े सो जामिहैं उलटा सीधो बीज॥'

तथा

'**भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥**'

(रामचरित०, बाल० २७।१)

इन दोहे-चौपाइयोंमें वास्तवमें कोई परस्पर विरोध नहीं है, दोनों ही ठीक हैं। बिना प्रेमके भगवान् जल्दी नहीं रीझते; उनके नामको चाहे जैसे भी लिया जाय, वह व्यर्थ नहीं जाता, उसका फल अवश्य होता है, किंतु साथमें प्रेम होनेसे भगवान् शीघ्र मिल सकते हैं—यह भाव इनका समझना चाहिये।

४—गीता ३।३५ में भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको अपने धर्मपर दृढ़ रहनेके लिये बहुत जोरके साथ कहा है सो ठीक है। वहीं १८।६६ में '**सर्वधर्मान् परित्यज्य**' कहकर उपर्युक्त श्लोकका विरुद्ध वचनके द्वारा खण्डन किया हो ऐसी बात नहीं है।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

—कहकर भगवान्ने यह कहा है कि 'सब धर्मोंको मुझमें छोड़कर यानी मुझमें समर्पण करके मेरी शरणमें आ जा।' यहाँ भी भगवान्ने सब कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेकी बात नहीं कही है। धर्मपर दृढ़ रहनेके लिये जिन्होंने जगह-जगह बहुत जोर देकर कहा है, वे स्वरूपसे धर्मोंका त्याग करनेकी बात कैसे कहते। ३।३५ के सिवा १६।२४ में भी भगवान्ने शास्त्रोक्त कर्म करनेपर बहुत जोर दिया है। उससे उपर्युक्त श्लोकमें सब धर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेकी बात नहीं समझनी चाहिये। सब धर्मोंको समर्पण करना ही भगवान्को मान्य है; क्योंकि भगवान्ने १८।५७ में स्पष्ट कहा है—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।

अर्थात् मनसे सब कर्मोंको मुझमें समर्पण कर दे और मेरी शरणमें आ जा। यही बात उस १८।६६ में भी कही गयी है। वहाँ '**सर्वधर्मान् परित्यज्य**' है, यहाँ '**चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य**' है। केवल शब्दोंका अन्तर है, भाव एक ही है।

जो बात पहले कह दी गयी किंतु बादमें नहीं है, उसको पूर्वप्रसंगसे अध्याहार कर लेना चाहिये—यह शास्त्रकी नीति है। 'सर्वधर्म' और 'सर्वशास्त्रविहित कर्म' का अर्थ एक ही है। तथा **'मामेकं शरणं व्रज'** और **'मत्परः'** ये दोनों शरणागतिके ही द्योतक हैं। भगवान्ने १८।६४ में पहलेकी कही हुई बातको दुहरानेकी बात कहकर ९।३४ में कही हुई बात १८।६५ में और १८।५७ की बात १८।६६ के पूर्वार्द्धमें कही है। प्रसंगको देखनेसे सब बातें आपकी समझमें आ सकती हैं।

५—धार्मिक पुस्तकोंके स्वाध्यायमें आपकी रुचि है, सो बहुत ठीक है। इसमें मन रम जानेके कारण ऑफिसका काम न होनेसे अफसर लोग नाराज होते हैं, सो ज्ञात किया। अफसर लोगोंको नाराज नहीं करना चाहिये। ८ घंटे कामकी पूरी ड्यूटी देनी चाहिये। इसके अतिरिक्त १६ घंटोंमें ६ घंटे शयन तथा २ घंटे शौच-स्नान-भोजन आदिमें लगाने चाहिये। शेष ८ घंटे जप, ध्यान और स्वाध्याय करना चाहिये। नौकरी छोड़नेसे आजीविका चलनी कठिन लिखी सो नौकरी तो कभी नहीं छोड़नी चाहिये। आपकी आकांक्षा बहुत बड़ा विद्वान् बननेकी है, सो बहुत अच्छी बात है। आपकी यह इच्छा ही इसकी पूर्तिमें बड़ी सहायक है। इस इच्छाकी उत्तरोत्तर वृद्धि करनी चाहिये।

मुझे देखनेकी प्रबल इच्छा लिखी सो आपके प्रेम और भावकी बात है। मैं तो साधारण मनुष्य हूँ। हमलोग चैत्रसे आषाढ़तक ऋषिकेश रहा करते हैं। आप एक मासकी छुट्टी लेकर वहाँ आकर रह सकते हैं।

✦✦

[६५]

आपका पत्र मिला। आपने मुझे भगवत्प्राप्त ज्ञानी महात्मा लिखा सो इस प्रकार प्रशंसाके शब्द लिखकर संकोचमें नहीं डालना चाहिये। मैं तो साधारण मनुष्य हूँ। प्रशंसाके योग्य तो भगवान् ही हैं; अतः उन्हींकी प्रशंसा करनी चाहिये।

आपके प्रश्नोंके उत्तर इस प्रकार हैं—

१—विषय-भोगोंमें सुख नहीं है, उनमें सुखका भ्रममात्र ही है—इतना मानते हुए भी जो मन विषयोंमें लिपटा रहता है, इसका कारण यही है कि हमने उपर्युक्त बातोंको सुनकर मनके विचारद्वारा किसी अंशमें ही माना है, उसे पूरी तरहसे समझा नहीं। समझनेके बाद तो विषयोंमें आसक्ति रह नहीं सकती। विषयोंमें जो क्षणिक सुख दीखता है, उसीको हम सुख मान बैठे हैं।

जिस प्रकार किसीको दिग्भ्रम हो जाता है तो उसे पूर्वदिशा पश्चिमदिशा प्रतीत होने लगती है; वास्तविक दिशाका उसे जल्दी ज्ञान नहीं होता, वैसी ही बात यहाँ भी समझनी चाहिये। झूठे सुखको सच्चा समझ लेनेके कारण ही मनुष्य उसमें फँसा हुआ है। इसके विषयमें युक्ति और शास्त्र प्रमाण हैं। भगवान्‌में जितना सुख है, उतना सुख और कहीं भी नहीं है; संसारमें हमें जो सुख प्रतीत होता है, वह सारा मिलकर भी भगवान्‌रूप सुखसागरकी बूँदके प्रतिबिम्ब-तुल्य भी नहीं है—इस बातको समझ लेनेपर जब संसारसे वैराग्य हो जाता है, तब भगवान्‌में अपने-आप ही प्रेम हो सकता है। संसार दुःखरूप और विनाशशील है। सांसारिक विषय-भोगोंमें वस्तुतः सुख है ही नहीं, दुःख-ही-दुःख भरा है—विचारद्वारा यह बात मनको विशेषरूपसे समझानी चाहिये। यह बात भगवान्‌ने गीता ५। २२ में कही है। भगवान्‌के शरण होकर गीता ९। ३४ एवं १०। ९ के अनुसार साधन करना चाहिये। इससे मनुष्यको कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है।

२—वीर्यकी कमीसे ही स्मरणशक्तिकी कमी होती है। स्मरणशक्तिको बढ़ानेके लिये ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। ब्राह्मी घृतका प्रयोग भी इसके लिये लाभदायक है। सांसारिक बातोंको तो अन्ततोगत्वा भुलाना ही है; परमात्मविषयक जिन बातोंको याद रखना आवश्यक है, उनको याद रखनेके उद्देश्यसे ही पढ़ना चाहिये और उनका मनन करना चाहिये तथा अपने सहपाठियोंके साथ उत्तर-प्रति-उत्तर करके समझना चाहिये। ऐसी चेष्टा करनेसे बातें अधिक याद रह सकती हैं।

३—बुरे संकल्पोंके कारण ही रात्रिमें स्वप्नदोष हुआ करता है। इसके लिये रात्रिमें सोते समय भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व एवं रहस्यकी बातोंको याद करते हुए एवं जप-ध्यान करते हुए ही शयन करना चाहिये। गर्म और गरिष्ठ पदार्थ नहीं खाने चाहिये। दूध भी विशेष गर्म नहीं पीना चाहिये। इस रोगको मिटानेके लिये सोनेके समय दो रत्ती बंग-भस्म आधा तोला शहदके साथ लेकर ऊपरसे डेढ़ पाव दूध पी लेना चाहिये। इससे लाभ हो सकता है। स्वप्नदोषके लिये प्रायश्चित्त यही है कि स्त्रियों तथा युवा बालक-बालिकाओंसे किसी भी प्रकारका सम्बन्ध ही न रखे।

४—गीतामें बताये हुए सात्त्विक लक्षणोंके अनुसार आप जीवन बिताना चाहते हैं सो बहुत अच्छी बात है; इसके लिये मनमें खूब दृढ़ संकल्प रखना चाहिये और भगवान्‌के शरण होकर उनके आगे करुणा-भावसे गद्‌गद होकर रोते हुए स्तुति एवं प्रार्थना करनी चाहिये। उनकी कृपासे सब कुछ हो सकता है। गीतामें सात्त्विक आचरण, गुण और लक्षणोंकी बात जगह-जगह बतायी गयी है। उदाहरणके लिये देखिये गीता १३।७—११; १६।१—३; १७।१४—१७; १८।५१—५५ आदि-आदि।

इन श्लोकोंका भाव गीताप्रेससे प्रकाशित गीता-तत्त्वविवेचनी टीकामें पढ़कर समझ सकते हैं। आपके पास पुस्तक न हो तो गीताप्रेस (गोरखपुर)-से मँगवा सकते हैं। गीतामय जीवन बनानेके लिये पहले गीताको समझना चाहिये। फिर उसके अनुसार चलनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

५—(१) निष्कामकर्म, (२) भगवान्के नामका जप तथा स्वरूपका ध्यान और (३) ज्ञान—इन तीनोंमेंसे किसी एक साधनसे मन शुद्ध हो सकता है। गीता ५। ११ एवं ४। २३ में निष्कामकर्मसे, ९। ३०-३१ में भगवान्के जप-ध्यानसे तथा ४। ३६-३७ में ज्ञानसे मन शुद्ध होनेकी बात कही गयी है। इन स्थलोंको गीतामें देखकर आप अच्छी प्रकार समझ सकते हैं।

(६) आपने अपनी दिनचर्या पूछी सो पहले अपनी वर्तमान दिनचर्या लिखनी चाहिये; फिर उसमें कोई सुधार आवश्यक होगा तो लिखा जा सकता है।

(७) आप अपने मनकी बात कहने और दूसरेके मनकी बात सुननेके लिये मित्र बनाना चाहते हैं सो ठीक है। सबसे बढ़कर तो भगवान्को ही अपना मित्र बनाना चाहिये। दूसरी श्रेणीमें भगवान्के चाहे जिस भक्तको मित्र बना सकते हैं। किसीको कोई बुरा काम करते देखकर आप मना करते हैं सो अच्छी बात है। यदि कोई आपकी बात न माने तो आपको रुष्ट नहीं होना चाहिये। कोई आपकी बात न माने तो इसमें आपकी कोई हानि नहीं है

८—भगवान्को तैलधारावत् भजनेकी बात गीता ८। १४ में देखनी चाहिये और अनन्यभावसे भजनेकी बात ९। २२ में कही गयी है, आप देख सकते हैं।

✦✦

[६६]

सादर प्रणामपूर्वक हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार विदित हुए।

आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) शरीर आदिसे आत्मा अलग होते हुए भी मनुष्यने अज्ञानके कारण यह स्वीकार कर लिया है कि मैं शरीर हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं भिखारी हूँ, मैं लड़का हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ इत्यादि। इसी कारण यह शरीरके सुख-दुःखसे सुखी-दुःखी होता रहता है। जब मनुष्य ज्ञानके द्वारा यह समझ लेता है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ, मेरा और इसका कोई सम्बन्ध नहीं है; अतः न तो यह शरीर मैं हूँ और न यह मेरा ही है।' फिर इसके सुख-दुःखका इसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। शरीरसे अपनेको अलग समझनेका सरल उपाय है—शरीरको अनित्य, जड और आत्माको नित्य, चेतन समझना; जो कि विचार या विश्वासपूर्वक सहजमें ही हो सकता है।

(२) समस्त प्राणियोंमें परमात्मा तो एक है। वह कहीं जाता आता भी नहीं, सर्वत्र समभावसे व्याप्त है। पर जीव एक नहीं है, अनेक है। उसका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें और लोकान्तरमें जाना-आना सूक्ष्म शरीरके सम्बन्धसे होता है।

(३) ध्यानकी बातें तत्त्व-चिन्तामणिमें अनेक प्रकारसे लिखी हैं, अपनी रुचिके अनुसार पढ़ लें; पत्रमें कहाँतक लिखी जायँ।

(४) जो कुछ दीखता है, वह उस रूपमें नहीं है—यह तो प्रत्यक्ष है, इसे तो सभी मानते हैं; क्योंकि दृश्यमात्रका प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है, वह कभी भी एक रूपमें नहीं रहता। आप विचार करें—इन्द्रियोंसे जो कुछ दिखायी देता है, क्या बुद्धिसे उसकी अनित्यता प्रतीत नहीं होती? यदि प्रतीत होती है तो हमें

बुद्धिके ज्ञानके अनुसार यह क्यों नहीं मान लेना चाहिये कि इस विनाशशील दृश्यसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तीन कालमें है या नहीं—यह निर्णय करनेकी अपेक्षा इससे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेना सरल है। जिसका इससे सम्बन्ध नहीं रहेगा, उसपर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

[६७]

सादर हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। समाचार विदित हुए। आपका पत्र पढ़नेमें और उत्तर देनेमें यदि मैं तकलीफ मानूँ तो यह मेरी भूल है। वास्तवमें तो जो कुछ मनुष्यको मिला है, सब उसी विश्वेश्वरका है। उसे जगज्जनार्दनकी सेवामें लगा देना ही उसका कर्तव्य है। उसमें तो आनन्द ही होना चाहिये।

आपकी आयु तेईस वर्षकी है और आपके माता-पिता आपका विवाह करना चाहते हैं तो उनकी प्रसन्नताके लिये एवं जिस कामवासनाको विचारद्वारा न मिटा सकें, उसे संयमपूर्वक नियमित स्त्रीसहवासद्वारा मिटानेके लिये विवाह करना अच्छा है।

आपका विचार मोक्ष पानेका है—यह बड़ी अच्छी बात है, पर मोक्ष पानेका उपाय घर छोड़ना है, यह समझना भूल है। यदि घर छोड़नेसे मोक्ष मिलता होता तो आजकलके साधु-समाजको क्यों नहीं मिल जाता?

× × × ×

आपने लिखा कि संसार बहुत विकारयुक्त लगता है, पर साथ ही आपका शरीर जो संसारका ही एक हिस्सा है, वह विकारवान् क्यों नहीं लगता? उसे अपना स्वरूप मानते हुए या अपना मानते हुए आप संसारका त्याग कैसे कर सकेंगे?

यदि संसारमें रहते हुए होनेवाले साधन कष्टकर हैं तो क्या

मनुष्य संसारसे बाहर हो सकता है? वह संसारसे बाहर कहाँ जायगा? जहाँ जायगा वहीं उसके साथ संसार रहेगा। अतः किसी प्रकारके सांसारिक सुखकी इच्छासे या शारीरिक कष्टके भयसे घर छोड़ा जाय तो उसे कभी साधनमें सुगमता नहीं मिल सकती। जबतक मनुष्य किसी भी परिस्थिति, व्यक्ति या अवस्थासे सुखकी आशा रखता है, तबतक वह इनके पराधीन ही बना रहता है। संसारकी पराधीनतामें कहीं भी सुख नहीं है।

भगवान्‌का चिन्तन तो उनके प्रेमसे होता है। प्रेम उनके साथ अपनापन होनेसे होता है। अपनापन श्रद्धा-विश्वाससे होता है। अतः केवल भगवान्‌पर ही श्रद्धा-विश्वास करना चाहिये; क्योंकि भगवान् ही सबसे बढ़कर श्रद्धा-विश्वासके योग्य हैं। इस प्रकार सब ओरसे प्रेम हटकर जब एकमात्र भगवान्‌में हो जायगा, तब अटल स्मरण अपने-आप होने लगेगा। इसके विपरीत जबतक किसी भी व्यक्तिमें मोह रहेगा, वह चाहे कुटुम्बवाला हो, चाहे साधु-वेषधारी हो, भगवान्‌का अटल चिन्तन होना सम्भव नहीं। अपने शरीरमें मोह रहते हुए भी अटल भगवच्चिन्तन नहीं हो सकता। अतः शरीर, घर और कुटुम्बीजनोंमें मोह और आसक्तिका त्याग करना साधनमें सहायक है। कुटुम्बीजनोंकी सेवाका त्याग करके उनसे अलग होना उचित नहीं है।

आपने लिखा कि 'कुटुम्बमें मानस-दुःख बहुत है, इससे मन ठीक नहीं रहता।' इसपर विचार करना चाहिये कि इसका कारण क्या है? विचार करनेपर पता चलेगा कि दुःखका कारण दूसरा कोई नहीं है। दुःख अपना माना हुआ है। अतः साधकको उचित है कि कुटुम्बको साधनकी सामग्री बना ले। सबको भगवान्‌में लगाना ही उनको साधन-सामग्री बनाना है। स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके कर्तव्य समझकर आदर-सत्कारपूर्वक सबके हितकी चेष्टा करता रहे।

ऐसा करनेसे मन शुद्ध हो सकता है। हृदयमें शान्ति होकर सब प्रकारकी कठिनाइयाँ भगवान्‌की कृपासे अपने-आप मिट सकती हैं।

जिसके द्वारा घरमें रहकर साधन नहीं हो सकता, वह घर छोड़कर साधन कर सकेगा, यह समझना भूल है। आसक्ति और स्वार्थका त्याग ही साधनकी नींव है, जो हरेक परिस्थितिमें किया जा सकता है। जो साधक अपने साधनके लिये किसी भी अनुकूल वस्तु, व्यक्ति और परिस्थितिकी आशा रखता है, वह अपने अमूल्य मनुष्य-जीवनका समय व्यर्थ खो रहा है। साधकको यही चाहिये कि भगवान्‌की कृपासे उसे जो कुछ प्राप्त है, उसका ठीक-ठीक उपयोग करके सब प्रकारकी कामनासे रहित हो जाय और एकमात्र भगवत्प्रेम प्राप्त करनेके लिये लालायित हो उठे।

आपने लिखा कि 'मेरे त्यागसे घरवालोंको कोई हर्ज नहीं होगा'—इसपर गम्भीरतासे विचार करें। त्याग क्या है? घर छोड़ देनेका नाम त्याग नहीं है। आसक्ति, स्वार्थ और ममताका त्याग ही वास्तविक त्याग है।

माता-पिताकी सेवा करनेवाले तीन भाई और हैं, यह ठीक है, पर वे जो सेवा करेंगे, उससे तो उनके कर्तव्यका पालन होगा आपका नहीं। उससे आप माता-पिताके ऋणसे मुक्त नहीं हो सकेंगे, अपितु आपके वियोगसे जो माता-पिताको मोहवश शोक होगा, उस दोषके भागी आप बनेंगे।

'विवाह करके आप उनके लिये बोझा बनेंगे, उनको आर्थिक दुःख होगा'—यह मानना भी आपकी भूल है। अपना बोझा आप उनपर क्यों डालेंगे, जब कि उन्होंने आपको समर्थ बना दिया है। अब तो उनकी भी आर्थिक सहायता करना आपका फर्ज है न कि उनसे सहायता लेना। लेनेका नाम सेवा नहीं है।

यह सर्वथा सत्य है कि मनुष्य-जीवन आत्मकल्याणके लिये है। अतः उसके लिये भगवान्‌के चरणकमलोंमें मन लगाना परम आवश्यक है। सद्‌गुरुकी शरण लेना भी बड़ा अच्छा है, पर यह भी समझना परम आवश्यक है कि हाड़-मांसका शरीर सद्‌गुरु नहीं है। महापुरुषोंका जो दिव्य ज्ञान है,वही सद्‌गुरु है। अतः साधकको चाहिये कि जिसपर उसकी श्रद्धा हो, उसके दिव्य ज्ञानका आश्रय ले। ऐसा सद्‌गुरु यदि प्रत्यक्षमें दिखलायी न दे तो पूर्वमें हुए किसी महापुरुषके दिव्य ज्ञानका आश्रय लेकर या भगवान्‌का आश्रय लेकर साधनपरायण हो जाय।

इस कार्यके लिये विलम्ब करना आवश्यक नहीं है, न कोई सोचनेकी ही बात है। जहाँ और जिस परिस्थितिमें आप हैं वहीं तत्काल साधन आरम्भ कर दीजिये। मायाजाल कहीं बाहरसे नहीं आया है, आपका ही बनाया हुआ है। अतः इससे निकलनेमें आप सर्वथा समर्थ हैं। इस मायाजालसे छूटनेके लिये भगवान्‌के शरण होना चाहिये।

आश्चर्य तो इस बातका है कि आप मुझसे परामर्श भी करना चाहते हैं और उत्तर भी अपने ही मनका चाहते हैं, पर मुझे उसमें आपका हित प्रतीत न होता हो, तब मैं वह सम्मति कैसे दूँ। आप सब बातोंपर गम्भीरतासे विचार करें, उसके बाद आपको जो उचित जान पड़े सो करें।

✦✦

[६८]

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार विदित हुए। आपको मालूम होना चाहिये कि मैं स्वामी नहीं, एक साधारण गृहस्थाश्रमी मनुष्य हूँ। जातिका भी वैश्य हूँ।

× × × ×

आप सत्संगके लिये यहाँ आना चाहते हैं, यह अच्छी बात

है। माता-पिताको राजी करके उनकी आज्ञा लेकर ही आना चाहिये। सत्संगकी इच्छा भी सत्संगका फल दे दिया करती है; क्योंकि वास्तवमें इच्छा ही प्रधान है।

आपके प्रश्नोंके उत्तर क्रमसे इस प्रकार हैं—

(१) सब प्रकारसे वीर्यकी रक्षा करना, स्त्रीका और युवा बालक-बालिकाका संग मन, इन्द्रिय और शरीरसे न करना, स्त्रियोंमें आसक्त पुरुषोंका भी संग न करना, उनमें रुचि उत्पन्न करनेवाले अश्लील साहित्यको न पढ़ना, वीर्यनाशसे होनेवाली हानियोंको समझना—ये सभी ब्रह्मचर्य-रक्षाके साधन हैं।

(२) किसी भी प्राणीको अपने स्वार्थके लिये किसी प्रकारका कष्ट न देना, किसीका बुरा न करना और न चाहना, किसीके दोषोंको न देखना, न कहना और न स्मरण ही करना, किसीपर क्रोध न करना, किसीको गाली न देना, किसीको चोट न पहुँचाना—ये सभी अहिंसाके साधन हैं।

(३) किसी वस्तु, व्यक्ति और परिस्थितिमें ममता न करके अर्थात् उन सबको अपना न मानकर सबको भगवान्‌का मान लेनेसे राग-द्वेषका नाश हो जानेपर सुख-दुःखमें समता आ सकती है।

(४) परमात्माका तत्त्व समझ लेनेसे या 'सर्वत्र सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही व्यापक हैं'—इस बातपर दृढ़ विश्वास होनेसे सर्वत्र परमात्माका दर्शन हो सकता है। इसी प्रकार प्रेम होनेपर सर्वत्र प्रेमास्पदका दर्शन होने लग जाता है।

(५) मन, बुद्धि इन्द्रिय और शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर जब चेतन आत्मा अकेला रह जाता है, तब उस स्वरूप-स्थितिको ही 'कैवल्य' कहते हैं।

(६) जंगलमें रहनेसे ही एकान्त नहीं होता; क्योंकि वहाँ भी नाना जातिके प्राणी निवास करते हैं। वास्तवमें एकान्त तो वही

है, जिस स्थितिमें साधक आसक्ति और ममतासे रहित होकर केवल एकमात्र परमात्मामें ही तन्मय रहता है।

(७) समस्त भोगसामग्रीके संग्रहके त्यागको अपरिग्रह कहा है। अतः किसी भी भोग्य वस्तु और व्यक्तिमें ममता न करना और उनसे अनासक्त रहना ही अपरिग्रहका सरल साधन है।

(८) कोई भी वस्तु इच्छासे नहीं मिलती—इस तत्त्वको समझकर इच्छारहित हो जाना ही संतोषी बननेका सरल और सुगम उपाय है। इच्छारहित मनुष्य ही संतोषी हो सकता है और वही सुखी हो सकता है।

(९) भगवान्में प्रीति होनेका वास्तविक और सहज उपाय यही मालूम होता है कि साधकको जहाँ-जहाँ भगवान्से भिन्न किसी दूसरेमें प्रीति और ममता मालूम हो, वहाँ-वहाँसे प्रीति और ममता उठा ले तथा एकमात्र भगवान्को ही संदेहरहित विश्वासपूर्वक अपना मानकर प्रेम करे।

(१०) निद्राका सदुपयोग करनेसे अर्थात् थकावट दूर करनेके लिये कम-से-कम जितने समय विश्राम करना आवश्यक हो, उससे अधिक न सोनेसे और आवश्यक समयपर निश्चिन्त होकर सो जानेसे अनावश्यक निद्राका त्याग अपने-आप हो जाता है।

(११) मनको वशमें करना मनोदण्ड है। इसीको शम कहते हैं। वाणी आदि इन्द्रियोंको वशमें कर लेना ही वाग्दण्ड है, इसीको दम कहते हैं। शरीरकी व्यर्थ चेष्टाओंका त्याग करके शरीरको वशमें कर लेना ही कायदण्ड है।

(१२) संसारका ध्यान छोड़कर भगवान्में श्रद्धा-प्रेम होनेसे और उनके गुण और महिमाका ज्ञान होनेसे भगवान्का ध्यान सुगमतासे हो सकता है।

(१३) भगवान्के नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभाव, तत्त्व एवं

रहस्यकी बातोंको विश्वास और प्रेमपूर्वक सुनना ही श्रवण है। एवं उनका वर्णन करना ही कीर्तन है—भगवान्‌को अपना मान लेनेपर ये साधन सुगम हो जाते हैं।

(१४) स्त्री, पुत्र, गृह एवं सम्पत्ति आदिमें ममता न करना, और ये सब उसीके हैं, जिसका समस्त विश्व है, यह मान लेना ही भगवान्‌के सर्वस्व अर्पण करना है। इनके साथ-साथ स्वयं अपनेको भी भगवान्‌का मानकर समर्पित हो जाना चाहिये। इसीमें साधकका कल्याण है।

(१५) भगवान्‌में प्रेम होनेसे उनके भक्तोंमें प्रेम होना स्वाभाविक है।

(१६) सबको भगवान्‌का मानकर भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये उन्हींकी कृपासे प्राप्त हुए पदार्थ, सामर्थ्य और ज्ञानके द्वारा सबको सुख पहुँचाना, माता-पिता और गुरुजानोंकी कर्तव्य समझकर नि:स्वार्थ भावसे सेवा करना। ऐसा करनेसे भगवान्‌के भक्तोंकी, वृद्धोंकी और भगवान्‌की—सबकी सेवा बड़ी ही सुगमतासे की जा सकती है।

✦✦

[६९]

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार ज्ञात हुए। पत्रोंकी अधिकता एवं कार्यव्यस्तताके कारण उत्तरमें विलम्ब हुआ, इसके लिये विचार न करेंगे।

भक्तिभावसे विमुख होना, सूर्योदयके बाद ८ बजे उठना और काम-धंधेमें आसक्त होना, समयको व्यर्थ नष्ट करना यह सर्वथा प्रमाद है। इसका तो त्याग करना ही चाहिये। प्रमादके रहते कोई भी अपनी उन्नति नहीं कर सकता।

आपके प्रश्नोंके उत्तर क्रमसे इस प्रकार हैं—

(१-२) वास्तवमें मनकी शुद्धि आप करना कहाँ चाहते हैं? क्योंकि उसके लिये जो उपाय बताये गये हैं, उनको आप काममें नहीं लाते, तब उसकी शुद्धि कैसे हो? इसमें मनका क्या दोष है? आप स्वयं तो भोगोंका सुख भोगें और मनको भगवान्‌के भजनमें लगावें—यह नहीं हो सकता। मन तो आपके साथ रहेगा; क्योंकि उसमें अपनी स्वतन्त्र शक्ति नहीं है। वह जो कुछ करता है, आपसे शक्ति पाकर ही करता है। जगत्‌में रहना तो भगवान् शंकरकी सेवा करके उससे उऋण होनेके लिये है, न कि संसारके विषयभोग भोगनेके लिये। घरका और दूकानका काम यदि भगवान् शंकरका काम समझकर शंकरकी आज्ञाके अनुसार उनकी कृपासे प्राप्त पदार्थों और सामर्थ्यके द्वारा उन्हींकी प्रसन्नताके लिये निष्काम सेवाभावसे किया जाय तो वह भगवान् शंकरकी ही पूजा है। अतः उससे मन अपने-आप शुद्ध होकर स्थिर हो सकता है और सब प्रकारसे दुःखप्रद संसार आनन्दमय शिवस्वरूप प्रतीत होने लग जाता है।

(३) सद्‌ग्रन्थोंको पढ़ना अच्छा है। पर साथ-साथ उनमें कही हुई बातोंको समझकर उनके अनुरूप अपना जीवन बनानेकी आवश्यकता है। केवल पाठसे वह लाभ नहीं मिल सकता, जो उनके कथनानुसार जीवन बनानेसे मिलता है।

केवल भगवान्‌में प्रेम लगा रहना तो बहुत ही उत्तम है। पर उसमें किसी प्रकारका अभिमान या सुखकी कामना नहीं होनी चाहिये।

(४) यह अभ्यास तो साधनके लिये बहुत ही उपयोगी है कि जिस काममें लगे, उसका असली आनन्द न प्राप्त कर लेनेतक उसे न छोड़े।

(५) दुःखीको देखकर हृदयका द्रवित हो जाना बड़ा अच्छा

है। साथ-ही-साथ उनकी सेवा करना भी आवश्यक है। केवल संसारको दुःखरूप समझना ही उस घटनाका उच्चतम सदुपयोग नहीं है। दुःखीका दुःख दूर करनेके लिये प्रयत्न भी करना चाहिये।

(६) आप किसी समाजमें न जायँ; किसीको अपना मित्र न बनायें तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है; किंतु प्रभुके नाते सभीमें निःस्वार्थ मित्रभाव रखना चाहिये। यही सबसे अच्छा है।

पिताजीकी आज्ञा बिना आप एक घंटा भी अन्यत्र नहीं जा सकते, यह बहुत ही अच्छी बात है। भगवान्‌की कृपा है, जो आपके पिताजी और घरवाले आपके शरीरकी इतनी देख-रेख करते हैं।

आप इसमें बन्धन मानते हैं, इसमें पराधीनता और दुःख अनुभव करते हैं, इससे छुट्टी मिलनेको छुटकारा मानते हैं और प्रसन्न होते हैं, यही आपकी सबसे बड़ी भूल है। प्रत्येक कामको भगवान्‌का काम—उन्हींकी पूजा समझकर उन्हींकी प्रसन्नताके लिये सेवाके रूपमें करने लगें तो उसका करना बन्धन नहीं लगना चाहिये। उससे छुट्टी मिलनेमें प्रसन्नता नहीं होनी चाहिये। वास्तवमें पराधीनता तो विषयोंमें आसक्त होकर मनके अधीन होना है। उसका त्याग कर देनेपर कोई पराधीनता नहीं रहती—पूर्णतया स्वतन्त्रता मिल जाती है।

घरवाले आपके विचारोंको तभीतक खराब समझते हैं, जबतक आप उनकी सेवा, सत्कार, आदर नहीं करते। यदि आप अपने कर्तव्यका पालन करके भगवान्‌के नाते उनको आदरपूर्वक सुख देने लग जायँ तो कोई भी आपके विचारोंको बुरा न समझे। इसमें घरवालोंको दोषी समझना भूल है।

(७) आपने साधु बननेका विचार छोड़ दिया, यह तो ठीक है, पर आपने जो साधु-समाजके दोषोंकी आलोचना की यह अच्छा नहीं है। किसीके भी दोषोंको देखना और उसकी निन्दा करना साधनमें बड़ा भारी विघ्न है।

(८) व्यापारमें झूठ बोलनेवाला ही सफल हो सकता है, ऐसी बात कदापि नहीं है तथा बिना झूठ-कपटके व्यापार नहीं चल सकता, ऐसी बात भी नहीं है। यह धारणा गलत है।

यह तो उनकी मान्यता है, जिनका न तो कर्तव्यपर विश्वास है, न ईश्वरपर और न प्रारब्धपर ही। वास्तवमें तो बात यह है कि छल-कपट छोड़कर सबकी सेवाके भावसे सत्य व्यापार करनेवाला व्यापारमें जितनी उन्नति कर सकता है, उतनी झूठ बोलनेवाला कभी नहीं कर सकता। आपका सम्बन्धी, जो आपकी दूकानपर काम करता है, उससे व्यापारकी युक्ति तो सीखनी चाहिये, पर उसके झूठ-कपटका अनुसरण नहीं करना चाहिये।

क्योंकि झूठ-कपट करनेवालेको नरकका दुःख भोगना पड़ता है। इतना ही नहीं, उससे भी बड़ा नुकसान यह है कि उसका नैतिक पतन हो जाता है। वह भगवान्‌की ओर बढ़ नहीं सकता। मनुष्य-जन्मके लाभसे वंचित रह जाता है।

आपके पिताजी, जो आपकी दूसरोंके सामने निन्दा करते हैं, उसका आपको दुःख नहीं करना चाहिये। पिताजीमें किसी प्रकारका दोषारोपण भी नहीं करना चाहिये। उनके कथनको शिक्षा समझकर अपने दोषोंकी खोज करनी चाहिये। यदि ऐसा कोई दोष समझमें आ जाय, जो त्याग करनेके लायक हो, जिसके कारण पिताजीको दुःख होना उचित प्रतीत होता हो तो उसका तुरंत त्याग कर देना चाहिये।

(९) आप गीता अध्याय ४ श्लोक ११ का अर्थ ठीक-ठीक

समझ लेते तो उसमें डरनेकी या साधनको छोड़नेकी अथवा भगवान्‌को कष्ट होनेकी कोई बात है, ऐसी मान्यता ही नहीं होती। आपने उसका अर्थ गलत समझकर ही ऐसी धारणा कर ली है, उसे छोड़ देना चाहिये।

उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि 'जो मेरे भक्त मुझे जिस-जिस प्रकारसे, जिस-जिस भावसे भजते हैं, मैं भी उसी प्रकार उनको भजता हूँ अर्थात् उनके भावानुसार ही उनसे प्रेम करता हूँ।' इसका विस्तार गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीता-तत्त्वविवेचनी' टीकामें उपर्युक्त श्लोककी व्याख्यामें देखना चाहिये।

अधूरी पूजाको छोड़ देना, जपको पूरा न करके बीचमें छोड़ देना, दिनभर काफी झूठ बोलना—यह तो प्रमाद और पाप है। इसका नाम भजन नहीं है। अतः इन सब दोषोंका तो सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। पूजा और जपसंख्या आदिका नियम और समय पहलेसे ही समझ-सोचकर निर्धारित करना चाहिये, जिसमें कोई विघ्न न आ सके।

(१०) मीराने भक्ति की और सर्वस्व तन, मन, धन भगवान्‌को अर्पण कर दिया, यह ठीक है। उसी प्रकार आप भी बड़ी सुगमतासे कर सकते हैं। इसमें कठिनाई ही क्या है? जिस तन, मन, धनको गलतीसे आपने अपना मान लिया है, उसको अपना न मानकर भगवान्‌का मान लेना एवं अपने-आपको उनका सेवक मानकर जिस प्रकार भरतजी अयोध्याके राज-काजको भगवान्‌का काम समझकर करते थे, उसी प्रकार समस्त कार्योंको भगवान्‌के समझकर भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये उनके आज्ञा-पालनके रूपमें करते रहना—यही तो भक्ति है।

घरवाले जो यह कहते हैं 'भक्ति भी करो और अन्य कार्य भी करो'—इसमें कोई बुराई नहीं है। वे तो अपनी समझके

अनुसार कहते हैं। किंतु आपको चाहिये कि वे जिसे दूसरा काम समझते हैं, उसे भी आप भगवान्‌का काम समझकर भक्तिका अंग बना लें। ऐसा करनेसे भक्ति अधूरी नहीं रहेगी—पूर्ण हो जायगी और उनका कथन भी रह जायगा।

घरवाले जो यह कहते हैं कि आनन्द लूटो, मजा लो, उनको उत्तर देनेकी आवश्यकता नहीं। मनमें समझो कि भगवान्‌की स्मृतिमें जो आनन्द और मजा है, वही सच्चा आनन्द और मजा है। संसारमें न मजा है और न आनन्द ही। भोले भाई लोग जिसे आनन्द कहते हैं, वह तो दुःखका ही दूसरा रूप है।

नित्यकर्म—पूजापाठके लिये यदि घरवाले प्रसन्नतापूर्वक दो घंटेका समय देते हैं तो बड़ी अच्छी बात है। वह समय भगवान्‌के काममें विशेषरूपसे लगाना चाहिये और बाकी समय भी भगवान्‌की सेवाके रूपमें ही लगाना चाहिये। यानी उसके द्वारा घरवालोंके और दूसरोंके हृदयमें स्थित भगवान्‌की सेवा करनी चाहिये। अभिमानसे रहित होकर उन सबको निष्कामभावसे सुख पहुँचाना ही भगवान्‌की उत्तम सेवा है। इससे आपका भविष्य बड़ा ही सुन्दर और उज्ज्वल बन सकता है। घबरानेकी बात नहीं है।

आपने जो यह समझा कि भक्तिको छोड़ देना ही अच्छा है। अधूरी भक्ति करनेसे उलटा पाप सिरपर चढ़ता है—इत्यादि आपकी यह समझ बिलकुल गलत है। भगवान्‌की भक्ति तो मनुष्य जितनी करे, उतनी ही अच्छी है। उसमें पापकी तो कोई बात ही नहीं।

(११) आपने लिखा कि अभी मेरी किसी चीजमें रुचि नहीं है, सो यह तो अच्छी बात है। रुचि तो सब ओरसे हटाकर एकमात्र भगवान्‌में ही करनी चाहिये, यही सर्वोत्तम जीवन है; पर इसका अर्थ घरवालोंसे या अन्य किसीसे द्वेष करना नहीं है।

काम करना बुरा नहीं है। भगवान्‌को स्मरण रखते हुए उनका

काम समझकर उनकी प्रसन्नताके लिये उनके आज्ञानुसार सेवाके रूपमें काम करना तो भक्ति ही है। इसका भक्तिसे कोई विरोध नहीं है। अतः काम करूँ या भक्ति करूँ? यह प्रश्न नहीं बनता।

(१२) तन, मन, धनसे प्रभाकरकी परीक्षाकी तैयारी करना अच्छा है। उसके बाद बी० ए० आदि कर लेना भी अच्छा है; पर नौकरीके लिये, किसी प्रकारकी अधिकारकी प्राप्ति या धनप्राप्ति आदिके लिये नहीं। भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये उनका आदेश पालन करते हुए उनकी सेवाके रूपमें ही सब कुछ निःस्वार्थभावसे करना है, इस लक्ष्यको कभी नहीं भूलना चाहिये।

(१३) आपने लिखा कि 'जब मैं कुछ कमाने लायक हो जाऊँगा, तब मुझे कोई कुछ नहीं कह सकेगा।' इससे यह पता चलता है कि अब घरवाले आपको जो कुछ कहते हैं, वह आपको बुरा लगता है, आप उनको अपने काममें बाधक समझते हैं, सो यह समझना गलत है। उनका कहना बुरा नहीं लगना चाहिये। उनके कथनमें जो अच्छी बात हो उसे भगवान्‌की ओरसे भेजी हुई चेतावनी मानकर उसके अनुसार अपना सुधार करना चाहिये। भगवान्‌की भक्तिमें दूसरा कोई बाधा नहीं डाल सकता। भक्तिका कार्य तो हर समय हरेक परिस्थितिमें चल सकता है। उसके लिये यह मानना कि जब मैं कमाने लग जाऊँगा, तब भक्तिका काम निरन्तर चलता रहेगा, बड़ी भारी भूल है।

सरकारी नौकरीकी खोज करना भक्तिमें आवश्यक नहीं है। घरवाले इसमें आपत्ति करते हैं, यह उचित ही है। नौकरीमें तो सब प्रकारसे पराधीनता है। भक्तिमें सब प्रकारसे स्वतन्त्रता है। भक्ति सभी परिस्थितियोंमें की जा सकती है, उसमें कोई कठिनाई नहीं है।

(१४) मनुष्य रातमें सोया, सुबह उठा, शरीरका शौच-स्नान

एवं भोजनादि काम किया, विषयोंका उपभोग किया—इस प्रकार जीवन व्यतीत करना यदि सांसारिक सुखके लिये है तो वह पशु-जीवन है। इससे मनुष्य-जन्मके उद्देश्यकी पूर्ति नहीं होती, यह सर्वथा ठीक है। झूठ बोलना तो पाप है। वह तो मनुष्य-जीवनका दुरुपयोग है। अतः साधकको चाहिये कि ऊपर बताये हुए आवश्यक कर्मोंको भी दूसरोंके हितकी बुद्धिसे भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये सेवाके रूपमें ही निःस्वार्थभावसे करे एवं उन सबको करते हुए अपने प्रभुको कभी न भूले।

(१५) आपके अन्तिम पाँच प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(क) मनकी शुद्धि निष्कामभावसे होती है। इसलिये निष्कामभावसे नामजप, परोपकार आदि उत्तम कर्मोंको करना चाहिये।

(ख) भगवान्‌को विश्वासपूर्वक अपना मानकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जप-ध्यान करनेसे पापीसे भी पापीका मन भगवान्‌में लग सकता है।

(ग) प्राणोंके संयम (रोकने)-का नाम प्राणायाम है। उसकी रीति गीताप्रेससे प्रकाशित 'योगदर्शन' के दूसरे पाद एवं 'गीता-तत्त्वविवेचनी' में चौथे अध्यायके २९-३० वें श्लोकोंकी टीकामें देखनी चाहिये।

(घ) धनमें प्रीति रखना सर्वथा हानिकर है। प्रेम तो एकमात्र भगवान्‌में होना चाहिये। संध्या कैसे करनी चाहिये, यह संध्याकी पुस्तकमें देखें या अपने ग्राममें किसी पण्डितसे सीखें; पत्रद्वारा इसे नहीं समझाया जा सकता। संध्या अर्थ एवं भाव समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक विधिके अनुसार करनी चाहिये। गीताप्रेससे प्रकाशित 'नित्यकर्मप्रयोग' नामक पुस्तकसे आपको सहायता मिल सकती है।

(ङ) भगवान्‌के दर्शन पानेकी चिन्ता बड़ी अच्छी है। इसके साथ और कुछ पानेकी इच्छाका सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। इसका उपाय भगवान्‌में अनन्य प्रेम ही है। अपने-आपको भगवान्‌का मानकर उनका हो जाना, उनपर ही निर्भर रहना; उनकी आज्ञाका पालन करना और उनको निरन्तर याद रखना—यही उनकी शरण लेना है। भगवान् तो शरण देनेके लिये हर समय तैयार हैं। उनकी शरण लेनेमात्रसे ही जीवन आनन्दमय अपने-आप हो जाता है।

✦✦

[७०]

सादर प्रेमपूर्वक हरिस्मरण।

अपरंच श्रीमहालक्ष्मीनारायणजीका पूजन आज मिति कार्तिक कृष्ण १४ सोमवार सं० २०१५ को यहाँ आनन्दपूर्वक हुआ। आपके यहाँ भी हुआ होगा?

सांसारिक भोग-विलास, ऐश-आराम, स्वाद-शौकीनी आदि सभी विषय क्षणभंगुर, नाशवान्, अनित्य और दुःखरूप हैं। इनमें एक बार तो सुख-सा प्रतीत होता है, किंतु ये परिणाममें दुःखके ही देनेवाले हैं। अतः इनमें बिलकुल ही आसक्त नहीं होना चाहिये। इसी प्रकार निद्रा, आलस्य, प्रमाद तथा दुर्गुण-दुराचार आदिको विषके समान समझकर इनका कतई त्याग कर देना चाहिये।

यह मनुष्य-शरीर परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है। उत्तम देश, उत्तम काल, उत्तम जाति और उत्तम धर्मकी प्राप्ति होनेपर भी यदि आत्माके उद्धारके लिये प्रयत्न नहीं करेंगे तो फिर कब करेंगे? इस प्रकारकी अनुकूल परिस्थिति सदा रहनेवाली नहीं है। संसारके अन्य सभी कार्य तो आपके पीछे

रहनेवाले आपके उत्तराधिकारी भी सँभाल लेंगे, किंतु यह अपने उद्धारका काम दूसरा कोई भी नहीं कर सकेगा। यह तो आपके करनेसे ही होगा। इसलिये जबतक मृत्यु दूर है, शरीर स्वस्थ है, तबतक ही अपने उद्धारके लिये उत्तम-से-उत्तम कार्य बहुत शीघ्र ही कर लेने चाहिये, जिससे आगे जाकर आपको पश्चात्ताप न करना पड़े ।

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

(रामचरित०, उत्तर० ४४)

इस संसारमें भगवान्‌के सिवा आपका परम हितैषी और कोई भी नहीं है। माता-पिता, भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, मकान, रुपये और सम्पत्ति आदि सभी क्षणभंगुर तथा नाशवान् हैं, कोई भी साथ जानेवाला नहीं है; औरकी तो बात ही क्या है, आपका शरीर भी यहाँ ही रह जायगा। केवल सत्संग, स्वाध्याय, भजन, ध्यान, सद्‌गुण, सदाचार, निष्काम सेवा आदि किये हुए सत्कर्म साथ जायँगे। इसलिये इनका सेवन विवेकपूर्वक तत्परताके साथ करना चाहिये।

आप सांसारिक क्षणभंगुर पदार्थोंको प्राप्त करनेके लिये जितना प्रयत्न करते हैं, उतना प्रयत्न यदि श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्‌के लिये करें तो बहुत शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

यहाँ सब प्रसन्न हैं। वहाँ सब प्रसन्न होंगे? सबसे यथायोग्य।

॥ श्रीहरिः ॥

परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके शीघ्र कल्याणकारी प्रकाशन

कोड	पुस्तक
683	तत्त्वचिन्तामणि
814	साधन-कल्पतरु (तेरह महत्त्वपूर्ण पुस्तकोंका संग्रह)
1597	चिन्ता-शोक कैसे मिटें ?
1631	भगवान् कैसे मिलें ?
1653	मनुष्य-जीवनका उद्देश्य
1681	भगवत्प्राप्ति कठिन नहीं
1666	कल्याण कैसे हो ?
527	प्रेमयोगका तत्त्व
242	महत्त्वपूर्ण शिक्षा
528	ज्ञानयोगका तत्त्व
266	कर्मयोगका तत्त्व (भाग-१)
267	कर्मयोगका तत्त्व (भाग-२)
303	प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनके उपाय
298	भगवान्‌के स्वभावका रहस्य
243	परम साधन—भाग-१
244	,, ,, भाग-२
245	आत्मोद्धारके साधन-भाग-१
335	अनन्यभक्तिसे भगवत्प्राप्ति
579	अमूल्य समयका सदुपयोग
246	मनुष्यका परम कर्तव्य (भाग-१)
247	,, ,, (भाग-२)
611	इसी जन्ममें परमात्मप्राप्ति
588	अपात्रको भी भगवत्प्राप्ति
1296	कर्णवासका सत्संग
1015	भगवत्प्राप्तिमें भावकी प्रधानता

कोड	पुस्तक
248	कल्याणप्राप्तिके उपाय
249	शीघ्र कल्याणके सोपान
250	ईश्वर और संसार
519	अमूल्य शिक्षा
253	धर्मसे लाभ अधर्मसे हानि
251	अमूल्य वचन तत्त्वचिन्तामणि
252	भगवद्दर्शनकी उत्कण्ठा
254	व्यवहारमें परमार्थकी कला
255	श्रद्धा-विश्वास और प्रेम
258	तत्त्वचिन्तामणि
257	परमानन्दकी खेती
260	समता अमृत और विषमता विष
259	भक्ति-भक्त-भगवान्
256	आत्मोद्धारके सरल उपाय
261	भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान
262	रामायणके कुछ आदर्श पात्र
263	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र
264	मनुष्य-जीवनकी सफलता—भाग-१
265	मनुष्य-जीवनकी सफलता—भाग-२
268	परमशान्तिका मार्ग—भाग-१
269	परमशान्तिका मार्ग—भाग-२
543	परमार्थ-सूत्र-संग्रह
1530	आनन्द कैसे मिले ?
769	साधन नवनीत

कोड	पुस्तक
599	हमारा आश्चर्य
681	रहस्यमय प्रवचन
1021	आध्यात्मिक प्रवचन
1324	अमृत वचन
1409	भगवत्प्रेम-प्राप्तिके उपाय
1433	साधना पथ
1483	भगवत्पथ-दर्शन
1493	नेत्रोंमें भगवान्‌को बसा लें
1435	आत्मकल्याणके विविध उपाय
1529	सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव कैसे हो?
1561	दुःखोंका नाश कैसे हो?
1587	जीवन-सुधारकी बातें
1022	निष्काम श्रद्धा और प्रेम
292	नवधा भक्ति
274	महत्त्वपूर्ण चेतावनी
273	नल-दमयन्ती
277	उद्धार कैसे हो?— ५१ पत्रोंका संग्रह
278	सच्ची सलाह— ८० पत्रोंका संग्रह
280	साधनोपयोगी पत्र
281	शिक्षाप्रद पत्र
282	पारमार्थिक पत्र
284	अध्यात्मविषयक पत्र
283	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ
1120	सिद्धान्त एवं रहस्यकी बातें
680	उपदेशप्रद कहानियाँ
891	प्रेममें विलक्षण एकता
958	मेरा अनुभव
1283	सत्संगकी मार्मिक बातें
1150	साधनकी आवश्यकता
320	वास्तविक त्याग
285	आदर्श भ्रातृप्रेम
286	बालशिक्षा
287	बालकोंके कर्तव्य
272	स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा
290	आदर्श नारी सुशीला
291	आदर्श देवियाँ
300	नारीधर्म
271	भगवत्प्रेमकी प्राप्ति कैसे हो?
293	सच्चा सुख और.......
294	संत-महिमा
295	सत्संगकी कुछ सार बातें
301	भारतीय संस्कृति तथा शास्त्रोंमें नारीधर्म
310	सावित्री और सत्यवान्
299	श्रीप्रेमभक्ति-प्रकाश— ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप
304	गीता पढ़नेके लाभ और त्यागसे भगवत्प्राप्ति— गजल-गीतासहित
623	धर्मके नामपर पाप
309	भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय- (कल्याणप्राप्तिकी कई युक्तियाँ)
311	परलोक और पुनर्जन्म एवं वैराग्य
306	धर्म क्या है? भगवान् क्या हैं?
307	भगवान्‌की दया (भगवत्कृपा एवं कुछ अमृत-कण)
316	ईश्वर-साक्षात्कारके लिये नाम-जप सर्वोपरि साधन है और सत्यकी शरणसे मुक्ति
314	व्यापार-सुधारकी आवश्यकता और हमारा कर्तव्य
1944	परम सेवा